सरस्वती-सिरीज़ नं० २९

मेरे अन्त समय के विचार

Mari Ant ~~Satan~~ Samhay.
Kai vichar

श्री भाई परमानंदजी

एम० ए०, एम० एल० ए०

Bhayapramas ~~maid~~

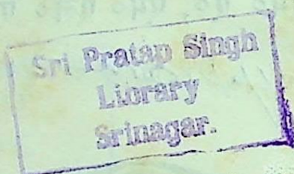


प्रकाशक
इंडियन प्रेस लिमिटेड
प्रयाग

प्राक्कथन

ऐंडमन जेल में सन् १९१५ से '२० तक रहते हुए ये नोट याददाश्त के तौर पर रक्खे गये। यह विचार-क्रम बार-बार मेरे मन से गुज़रता था। दो मास के अनशन के कारण मेरा खयाल था कि कालेपानी में ही मेरा शरीर-त्याग होगा। इसलिए उसके बाद यदि ये नोट किसी योग्य मनुष्य के हाथ पड़ जायँगे तो वह इन्हें छपवाकर प्रकाशित कर देगा। समय ने रंग बदला और स्वयं मुझे ही इनको प्रकट करने का अवसर मिल गया। मैंने इनके अंदर कोई परिवर्तन करना उचित नहीं समझा और ज्यों के त्यों पाठकों के सामने रख दिये हैं। एक प्रकार से ये विचार मेरे अंत समय के हैं। तब मैं समझ बैठा था कि अब मेरा दुनिया से कभी कोई संबंध न होगा।

लाहौर। } भाई परमानंद



विषय-सूची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
१ भगवद्गीता और उसका रचयिता ..	१	९ देवासुर-संग्राम ..	१०२
२ श्रीकृष्ण ..	९	१० राजयोग ..	१११
३ ज्ञान की सापेक्षता	१९	११ ज्ञान-मार्ग ..	११७
४ अंतिम तत्त्व ..	३७	१२ भक्ति-मार्ग ..	१२४
५ सृष्टि-उत्पत्ति—दैवी विकास ..	४७	१३ कर्म-मार्ग ..	१३०
६ भौतिक सृष्टि ..	६२	१४ मत-मतान्तर ..	१३८
७ मानसिक विकास ..	७९	१५ सिद्धांत ..	१४[illegible]
८ सामाजिक विकास	९१	१६ आत्म-स्वतंत्रता ..	१५[illegible]
		१७ धर्म और अधर्म ..	१५९
		१८ कर्त्तव्य ..	१६७

ग्रंथकार तथा ग्रंथ-सूची .. १

Printed and published by K. Mittra, at The Indian Press, Ltd., Allahabad.

पहला परिच्छेद

भगवद्गीता और उसका रचयिता

भगवद्गीता की ओर मेरा ध्यान

अपना विद्यार्थी-जीवन समाप्त करने के बाद मुझे यह ख़याल हुआ कि वह कौन सी पुस्तक है जिसे मैं अपने स्वाध्याय के लिए हर समय अपने साथ रख सकता हूँ। कार्लाइल की लिखी किताब "सारटर रिसार्टस" ने मेरे दिल पर इतना गहरा असर डाला कि मैंने उसे अपना साथी बना लिया। कुछ समय गुज़र गया। अब मुझे यह बात पढ़ने का मौक़ा मिला कि एक बार अमेरिका का एकमात्र प्रसिद्ध दार्शनिक एमर्सन कार्लाइल से मिलने गया। बिदा के समय कार्लाइल ने एमर्सन को भगवद्गीता की एक प्रति उपहार-स्वरूप भेंट की। इस घटना ने मेरे अन्दर परिवर्तन उत्पन्न किया। मैंने "सारटर रिसार्टस" को अलग रख दिया और उसकी जगह भगवद्गीता को अपने साथ कर लिया।

भगवद्गीता की सर्वप्रियता

हिन्दू-जाति का बच्चा-बच्चा भगवद्गीता के नाम से परिचित है। भारत में इस पुस्तक के जितने संस्करण छपे हैं, उतने शायद किसी और के न छपे होंगे। यहाँ जितना अध्ययन इसका किया जाता है, उतना किसी और का शायद ही किया जाता हो। आर्य-जाति के पुराने विद्वानों

में कोई विरला ही ऐसा होगा, जिसने भगवद्गीता पर अपनी टीका न लिखी हो। देश की विभिन्न भाषाओं में भगवद्गीता पर कई टीकाएं लिखी गई हैं। विदेशी भाषाओं में शायद ही कोई ऐसी हो जिसमें भगवद्गीता का अनुवाद विद्यमान न हो।

मुसलमानों में भगवद्गीता का सम्मान

मुसलमानों में सबसे पहला आदमी बुख़ारा का राजकुमार अलबरूनी था, जिसका ध्यान भगवद्गीता की तरफ़ हुआ। उसे महमूद ग़ज़नवी ने क़ैद कर रक्खा था। हिरासत में रखने के लिए वह उसे हिन्दुस्तान पर आक्रमणों के समय भी अपने साथ लिये रहता। अलबरूनी ने युद्ध-काल में बड़ी कठिनाइयों के बाद संस्कृत का अध्ययन किया। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "भारत" में, जो तात्कालिक हिन्दुस्तान का एक चित्र है, उसने भगवद्गीता के कई श्लोक उद्धृत किये हैं। उसने आध्यात्मिक दृष्टि से इसे बड़ी उच्च कोटि की और पवित्र पुस्तक बताया है।

दाराशिकोह और भगवद्गीता

मुग़ल-काल में अकबर के आदेश से फ़ैज़ी ने इसका अनुवाद फ़ारसी भाषा में किया। दाराशिकोह ने इसका नाम "सरे अकबर" रक्खा और भूमिका में भगवद्गीता और महर्षि व्यास के सम्बन्ध में ये विचार प्रकट किये—

"सचाई का मार्ग बतानेवाली, हक़ को पहचाननेवाली, मारफ़त से भरी हुई, गहरे भेदों को खोलनेवाली, एकता दिखानेवाली, आनन्ददायिनी यह कृति विलक्षण मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी स्वामी व्यासजी की है। व्यासजी का गुणानुवाद करना वाणी और लेखनी की शक्ति से बाहर है।

संसार का प्रथम प्रसिद्ध दार्शनिक अफ़लातू, जो अरब तथा यूनान के दार्शनिकों का शिरोमणि है, विभिन्न विद्याओं का मर्मज्ञ होने पर भी ज्ञान की दृष्टि से तन्मीम हिन्दी के तुच्छ शिष्यों में से एक था। तन्मीम हिन्दी इतना बड़ा दार्शनिक था कि अफ़लातू ने अपनी पुस्तक में उसके परिपूर्णता से भरे गुणों का वर्णन अपनी क़लम से किया है। यह तन्मीम हिन्दी स्वामी व्यास के अनुगामी-वर्ग में से एक था। स्वामी व्यास के बड़प्पन का अनुमान इस एक बात से ही लगाया जा सकता है।"

पश्चिम पर भगवद्गीता का प्रभाव

भगवद्गीता और उपनिषदों के फ़ारसी अनुवाद जब योरप में पहुँचे, तब योरप के दार्शनिक इनको पढ़कर आश्चर्य-चकित हो गये। प्रसिद्ध दर्शनवेत्ता श्लेगल भगवद्गीता को पढ़कर वजद में आ गया और इसकी प्रशंसा करने लगा। शापनहावर और मत्सीनी या मेज़िनी के विचारों पर भगवद्गीता का गहरा असर हुआ। एमर्सन का गुरु थोरो भगवद्गीता का भक्त बन गया। उसने एक स्थान पर कहा है—"मैं प्रतिदिन भगवद्गीता के पवित्र जल में स्नान करता हूँ। वर्तमान काल की कृतियों से यह कहीं बढ़-चढ़कर है। जिस काल में यह लिखी गई वह सचमुच निराला ही समय रहा होगा।"

भगवद्गीता का विषय

यदि भगवद्गीता के विषय का अध्ययन और उसका मुक़ाबला हिन्दू शास्त्रों से किया जाय तो स्पष्ट दीख पड़ता है कि उसके रचयिता ने इसे लिखने में लगभग सभी आर्यशास्त्रों से सहायता ली है। वेदान्त, सांख्य, योग आदि सभी दर्शनों और वेदों की झलक इसके श्लोकों में

साफ़ पाई जाती है। उपनिषदों के तो कई शब्द एवं वाक्य इसमें दोहराये गये हैं। इसके रचयिता ने हिन्दूसाहित्य तथा दर्शन के सार को संक्षेप में एक जगह एकत्र कर दिया है। इसी लिए पुराण में यह कहा गया है--"सभी उपनिषद गौएँ हैं, अर्जुन बछड़ा है, श्रीकृष्ण दूध दुहनेवाले हैं और भगवद्गीता अमृतरूपी दूध है।" यदि कोई आदमी हिन्दू संस्कृति के समुद्र—धर्म, साहित्य और दर्शन--को एक कूजे. के अन्दर बन्द देखना चाहे तो वह भगवद्गीता पढ़ ले। यदि शेष सभी शास्त्र नष्ट हो गये होते और केवल भगवद्गीता ही रह जाती तो भी हिन्दू-जाति के बड़प्पन की स्मृति दुनिया में क़ायम रहती। हिन्दू सभ्यता इस समय इससे यहाँ तक सुरक्षित है कि भगवद्गीता का प्रचार या विनाश हिन्दू धर्म का प्रसार या विनाश है। सच ही कहा गया है कि वैदिक धर्म के कल्पवृक्ष का पका हुआ अमृतरूपी फल भगवद्गीता है।

भगवद्गीता और स्वामी दयानन्द

आधुनिक भारत के एक बड़े विद्वान् स्वामी दयानन्द ने भगवद्गीता को यह पद नहीं दिया। विचार करने पर मालूम होता है कि उनके ऐसा न करने के ख़ास कारण हैं। उनके जीवन में एक ही भाव काम करता है—वैदिक धर्म की रक्षा। स्वामी दयानन्द को वेदों से इतना प्रेम था कि जब कोई चीज़ उन्हें इसके रास्ते में बाधक मालूम देती, तो वे उसे अलग कर देते। दूसरे हर युग में हिन्दू आचार्यों ने भगवद्गीता का आश्रय लेकर अपने-अपने विचारों का प्रचार करने का प्रयत्न किया है। इन मत-मतान्तरों के झगड़े के समय नवीन वेदान्त की नींव पड़ी। प्रकट रूप से भगवद्गीता भी नवीन वेदान्त को सहायता देती मालूम होती

है। स्वामी दयानन्द इन मत-मतान्तरों और नवीन वेदान्त की शिक्षा को जाति के धार्मिक एवं नैतिक पतन के लिए उत्तरदायी समझते थे। इस कारण उन्होंने भगवद्गीता की भी उपेक्षा की।

भगवद्गीता और वेद

वेद के बारे में भगवद्गीता के विचार परस्पर-विरोधी से मालूम देते हैं। कई स्थलों पर, उदाहरणार्थ अध्याय ३ के श्लोक १५ में, अध्याय ७ के श्लोक ८ और अध्याय १५ तथा १७ में भी, वेद को ब्रह्म और ब्रह्म से ही पैदा हुआ बतलाया गया है। लेकिन अध्याय २ के श्लोक ४२, ४५, ४६, ५३ आदि में वेद को पीछे छोड़कर आगे जाने की शिक्षा दी गई है। इस प्रकट विरोध का दूर होना तभी सम्भव है, जब हम यह समझ लें कि महाभारत के काल से पहले ही वेद-शब्द के प्रयोग में भिन्नता आ गई थी। उस समय न केवल संहिता को ही वेद कहा जाता था बल्कि ब्राह्मणग्रन्थों, सूत्र ग्रन्थों आदि के लिए भी वेद शब्द प्रयुक्त किया जाता था। इन ग्रन्थों में विशेष रीतियाँ पूरी करके उनसे विशेष फल प्राप्त करने पर ज़ोर दिया गया है। भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में इनको ही वैदिक विधियाँ कहकर इनके कर्मकाण्ड को निचला दर्जा दिया गया है।

भगवद्गीता की विशेषता

स्वामी दयानन्द ने वैदिक धर्म की नींव केवल संहिता पर रक्खी है। संहिता या वेद को आर्य ऋषि आरम्भ से ही स्वतःप्रमाण और भ्रांति-रहित मानते चले आये हैं। स्वामी दयानन्द ने इस कारण वेद-धर्म की रक्षा के लिए फिर उन्हीं का आश्रय लिया। इस सिद्धान्त की सत्यता एवं स्वामी दयानन्द के उद्देश की पवित्रता में कोई सन्देह नहीं

हो सकता। फिर भी अब ऐसा समय मालूम होता है कि यह प्रश्न उठाया जावे कि संहिता या वेद वैदिक धर्म के बचाव एवं प्रसार के लिए वह काम कर सकते हैं जो अन्य मज़हबों के ग्रन्थ क्रियात्मक रूप से उनके लिए कर रहे हैं। यदि कोई चाहे कि एक पुस्तक स्थायी धार्मिक जीवन उत्पन्न करे तो इसके लिए पुस्तक की सचाई ही काफ़ी नहीं है बल्कि हर एक मनुष्य के लिए उसका अध्ययन करना आवश्यक है। वेदों की भाषा बहुत कठिन है। उनकी व्याख्याएँ भी शायद उतनी ही कठिन हैं। अभी तक वेदों का कोई ऐसा प्रामाणिक अनुवाद नहीं हुआ जो जनसाधारण के हाथ में दिया जा सके। शुरू से लेकर आज तक हमें कुछ ही नाम ऐसे मिलते हैं जो वेदों के जाननेवाले कहे जा सकते हैं। इसके लिए आर्यसमाज का आधी सदी का प्रयत्न हमें इस परिणाम पर पहुँचाता है कि आम लोगों के लिए वेदों का अध्ययन करना और समझना असम्भवप्राय है। वेद तो खोज की उन पुस्तकों के तौर पर रहे हैं जिनका अध्ययन विशेष मनुष्यों के लिए मालूम होता है।

विदेशी जातियों के लिए भगवद्गीता

यदि विदेशों में वेद-धर्म के प्रसार का ख़याल हो तो वहाँ के लोगों के हाथों में स्वाध्याय के लिए एक धर्म-पुस्तक का देना आवश्यक है। जब हम भारत में वेदों के पढ़नेवाले इतने कम पाते हैं, तब दूसरे देशों में उनके समझनेवालों के होने की आशा एक प्रकार से कम हो जाती है। कुछ आर्यसमाजी स्वामी दयानन्द-कृत सत्यार्थ-प्रकाश को इस उद्देश के लिए पेश करते हैं। परन्तु वे इस बात को भूल जाते हैं कि सत्यार्थ-प्रकाश का एक बड़ा भाग केवल भारत से सम्बन्ध रखता है जिसमें विदेशियों को

कोई दिलचस्पी नहीं हो सकती। इसके मुक़ाबले पर भगवद्गीता की हालत देखिए। इसके अंदर एक विशेष सौंदर्य और आकर्षण पाया जाता है। विदेशों में ऐसे बहुत से स्त्री-पुरुष मिलते हैं जिनको समस्त भगवद्गीता कण्ठस्थ है। इस कारण यह कहना अनुचित नहीं कि भगवद्गीता वह धर्म-पुस्तक है जिससे आर्य-धर्म के फैलाव में काम लिया जा सकता है। जाति की जाति इसे अपना धर्म-ग्रन्थ स्वीकार करती है। इसके अतिरिक्त क्योंकि इसमें वैदिक ज्ञान का इत्र, जैसा कि ऋषि, मुनि और दार्शनिक लोग मानते चले आये हैं, मौजूद है इसलिए इसे एकमत होकर आर्य-धर्म की प्रामाणिक पुस्तक कहना उचित है।

भगवद्गीता, बाइबल और महाभारत

कुछ पश्चिमी विद्वानों का विचार है, क्योंकि भगवद्गीता की अति पवित्र शिक्षा बाइबल की शिक्षा से मिलती है, इस कारण भगवद्गीता बाइबल के आधार पर लिखी गई है। यह बिलकुल वैसा ही व्यवहार है जैसा कूएँ के अन्दर उत्पन्न हुए एक मेढक ने समुद्र की उस मछली से किया जो बाढ़ आने पर उस कूएँ में आ गिरी थी। मेढक ने पूछा—'समुद्र कितना बड़ा है?' मछली ने उत्तर दिया—'बहुत बड़ा।' मेढक अपनी जगह से ज़रा पीछे हट गया। अब उसने सवाल किया—'क्या वह इतना बड़ा है?' मछली ने जवाब दिया—'नहीं, वह बहुत बड़ा है।' तब वह थोड़ा और पीछे हट गया और फिर पूछने लगा। इस प्रकार वह थोड़ा-थोड़ा परे होता और बार-बार वही सवाल दोहराता रहा। यहाँतक कि वह कूएँ के दूसरे किनारे तक जा पहुँचा। जब मछली ने कहा, 'नहीं, वह इससे भी बड़ा है', तब वह घबराकर कहने लगा—'यह सम्भव नहीं। इससे बड़ा दुनिया में कुछ नहीं हो सकता।'

भगवद्गीता जैसी पुस्तक अचानक उग नहीं सकती। इससे पूर्व शतकों की बौद्धिक उन्नति का होना आवश्यक बात है। जब तक उपनिषदों और हिन्दू दर्शनों की फिलासफी विद्यमान न हो तब तक भगवद्गीता लिखी नहीं जा सकती। इसके अतिरिक्त इसकी व्याख्या करनेवाले दृष्टान्त महाभारत में ही मिल सकते हैं न कि तौरेत के क़िस्से-कहानियों में। इसलिए भगवद्गीता की शिक्षा केवल गंगा-तट पर ही संभव थी न कि दजला और फ़रात की भूमि में।

भगवद्गीता का रचयिता

महाभारत की कथा में भगवद्गीता एक चमकते हीरे के समान है। महाभारत के रचयिता निस्संदेह ऋषि व्यास थे। भगवद्गीता के ज्ञान का उपदेश चाहे उनकी बौद्धिक शक्ति का फल है चाहे सचमुच श्रीकृष्ण ने ही उसे अर्जुन को दिया, इस बात पर बहस करना सर्वथा निरर्थक है। इससे भगवद्गीता के गौरव में कोई अंतर नहीं पड़ता। वह गौरव स्वयं भगवद्गीता के अन्दर ही पाया जाता है। अध्याय १८ के श्लोक ७५ में संजय कहता है—"इस प्रकार श्रीव्यास की कृपा से श्रीकृष्ण की यह उत्तम वार्ता मैंने सुनी। इसको मैं जितना याद करता हूँ उतना ही मैं गहरे आनन्द में पड़ जाता हूँ।"

परन्तु यदि श्री व्यास ने इसे स्वयं लिखकर श्रीकृष्ण के मुँह से ही सुनाना उचित समझा तो यह बात कि श्री व्यास जैसे ऋषि भी धर्म के तत्त्वज्ञान का प्रचार श्रीकृष्ण के नाम से ही कराना उचित एवं आवश्यक समझते थे, श्रीकृष्ण की विद्वत्ता और बड़प्पन को मानवी सीमा से कहीं आगे ले जाती है।

दूसरा परिच्छेद

श्रीकृष्ण

श्रीकृष्ण का जन्म

श्रीकृष्ण का जन्म मथुरा के पवित्र बन्दी-गृह में हुआ। यहाँ उनके माता-पिता को उनके मामा कंस ने क़ैद कर रक्खा था। मथुरा के नृशंस राजा कंस ने न केवल अपने पिता उग्रसेन बल्कि अन्य निकट सम्बन्धियों को भी, जिनसे उसे कभी डर हो सकता था, क़ैद में डाल रक्खा था। जिस दिन श्रीकृष्ण का जन्म हुआ उसी रात उनके पिता वसुदेव पहरेदारों की असावधानी या उपेक्षा के कारण लड़के को जमना के पार अपने गोप मित्र नन्द के यहाँ छोड़ आये और उनके यहाँ से एक नवजात लड़की को लाकर उन्होंने श्रीकृष्ण के स्थान में रख दिया। कंस ने अगले दिन सबेरे उस लड़की को मरवा दिया। बाद में शक हो जाने पर बालक कृष्ण को ढूँढ़ने और उनको मरवाने के लिए कंस ने कितनी ही कोशिशें कीं। इनकी कहानियाँ लोगों के दिलों को मोहित करनेवाली, परन्तु बहुत कवित्वपूर्ण, भाषा में वर्णन की गई हैं।

श्रीकृष्ण का बाल्यकाल और यौवन

श्रीकृष्ण ज्यों-ज्यों बड़े होते गये त्यों-त्यों उनकी बुद्धि, सुन्दरता और उनका बाँसुरी का बजाना गोकुल के गोपों तथा गोपियों के दिलों को अपनी ओर ज़्यादा खींचने लगा। श्रीकृष्ण के साथ गोपियों के

प्रेम और बचपन की रास-लीलाओं को कुछ गिरे हुए मनुष्यों ने गन्दे रंग में प्रकट किया है। ऐसे ही जैसे विषय में फँसा हुआ आदमी निर्दोष लड़के-लड़कियों के पारस्परिक प्रेम और खेल का चित्र अपने पापी मन पर बनाता है। मथुरा के गोप भी श्रीकृष्ण पर इतने मुग्ध थे कि चढ़ती जवानी में श्रीकृष्ण उन लोगों के नेता-से बन गये। उन्हें अपने आप और लोगों को कंस के अत्याचार से बचाने का कोई और उपाय नज़र न आया तो उन्होंने ग्वाल साथियों की छोटी सी फ़ौज इकट्ठी की और मथुरा पर आक्रमण करके कंस को अपने हाथ से क़तल कर दिया। तब मथुरा का राजपाट कंस के पिता उग्रसेन के सुपुर्द कर दिया गया। कंस के ससुर जरासन्ध ने, जो मगध का राजा था, अपने जमाई का बदला लेने के लिए मथुरा पर आक्रमण कर दिया। कई लड़ाइयों में तो श्रीकृष्ण उसकी सेना का मुक़ाबला करते रहे। लेकिन बहुत देर तक लड़ते-लड़ते और अपने आपको एक भारी दुश्मन के मुक़ाबले में सफल न होते देखकर उन्होंने मथुरा को छोड़ने का निश्चय कर लिया। तब उन्होंने अपने साथियों को ले दूर जाकर द्वारका का शहर बसाया और एक नये राज्य की नींव डाली।

श्रीकृष्ण और पाण्डव

इस समय हस्तिनापुर में पाण्डवों और कौरवों का झगड़ा शुरू हुआ। इसकी बुनियाद में उस ईर्ष्या का बीज था जो वर्तमान काल तक राजपूतों, मराठों, सिखों आदि के इतिहास में अपना फल बराबर देता हुआ नज़र आता है। युधिष्ठिर आदि पाँच पाण्डव भाई विभिन्न कलाओं में ऐसे निपुण थे कि उनकी ख्याति देखकर उनके चचेरे भाई कौरव, जिन

सरदार दुर्योधन था, ईर्ष्या की अग्नि में जलने लगे। उसने हर तरह से कोशिश की कि पाण्डव-भाइयों के जीवन का अन्त कर दे, यहाँ तक कि एक विशेष प्रकार का मकान बनाकर उसमें उनकी माता कुन्ती समेत उन्हें जला देने का प्रबन्ध किया गया। पर उनको इसकी ख़बर पहले से हो गई। वे वहाँ से भाग निकले। भेस बदलकर वे इधर-उधर समय बिता रहे थे कि उनको पञ्चाल के राजा की लड़की द्रौपदी के स्वयंवर की सूचना मिली। परिवर्तित वेष में वे भी पहुँचे। वहाँ बहुत से राजा-महाराजा पहले ही एकत्र थे। ग़रीब ब्राह्मण की शकल बनाये अकेले अर्जुन ने स्वयंवर की बड़ी कड़ी शर्त को पूरा किया। द्रौपदी ने उसके गले में जयमाला डाल दी। अन्य क्षत्रिय राजा हैरान रह गये। अर्जुन को ब्राह्मण समझकर वे उसके साथ लड़ने को तैयार हो गये। श्रीकृष्ण वहाँ मौजूद थे। उन्होंने पहली बार ही अपने सम्बन्धी पाण्डवों को वहाँ देखा, फिर भी उन्हें पहचान लिया और उनकी सहायता को वे तैयार हो गये। बाद में वे उन्हें हस्तिनापुर ले आये और कौरवों के साथ संधि करा दी। पाण्डवों ने हस्तिनापुर के साथ ही अपना अलग राज्य बनाया जिसकी राजधानी का नाम इन्द्रप्रस्थ रक्खा।

श्रीकृष्ण की ख्याति

श्रीकृष्ण द्वारका को वापस चले गये। उनकी ख्याति दिन प्रतिदिन चढ़ने लगी। उनका नाम सुनकर एक बार उनका पुराना मित्र सुदामा उनसे मिलने के लिए द्वारका आया। यह सुदामा लड़कपन में श्रीकृष्ण के साथ पढ़ा करता था। परन्तु अब बहुत ग़रीबी की हालत में था। लगातार कई दिन तक पैदल चलने के बाद वह थका-माँदा द्वारका

पहुँचा। घर से चलते समय उसकी स्त्री ने थोड़े से तण्डुल श्रीकृष्ण के वास्ते भेंट-स्वरूप ले जाने के लिए उसकी फटी हुई चादर के एक कोने में बाँध दिये थे। ज्योंही श्रीकृष्ण को सुदामा के आने की सूचना मिली त्योंही वे दौड़े-दौड़े महल से बाहर आये। उन्होंने सुदामा को अपनी छाती से लगा लिया। हाथ-पाँव धुलाने के बाद उसे चौकी पर बिठलाया और प्रेम की बातचीत करते हुए पूछा--'मेरे लिए क्या उपहार लाये हो?' मारे शर्म के सुदामा अपनी चादर के उस कोने को छिपा रहा था कि इतने में श्रीकृष्ण ने उठकर उससे वे तण्डुल छीन लिये। वे झटपट मुँह में थोड़े-से दाने डालकर चबाने लगे। बाक़ी उन्होंने रुक्मिणी को दे दिये कि उनको सबमें बाँट दे। श्रीकृष्ण सुदामा की स्त्री की बड़ी प्रशंसा करने लगे कि उसने यह उपहार भेजकर बड़ी कृपा की है।

यह सीधी-सादी घटना थी; परन्तु सर्वत्र फैल गई। फलतः इससे श्रीकृष्ण के बड़प्पन और सर्वप्रियता का डंका बज गया।

श्रीकृष्ण और राजसूय यज्ञ

श्रीकृष्ण को ख़बर मिली कि युधिष्ठिर ने एक राजसूय यज्ञ करना आरम्भ किया है। श्रीकृष्ण वहाँ पहुँचे और उन्होंने अपनी मन्त्रणा से सहायता देनी शुरू की। उनकी सम्मति के अनुसार यह निश्चय किया गया कि राजसूय यज्ञ करने से पूर्व जरासन्ध के मान को तोड़ना ज़रूरी है। कुछ देर विचार करने के बाद यह निश्चय हुआ कि श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीम, ये तीनों ही उसकी राजधानी में जायँ। ऐसा ही किया गया। वहाँ भीम ने जरासन्ध

से द्वन्द्व-युद्ध करके उसका ख़ातमा कर दिया। फिर उसका लड़का गद्दी पर बिठला दिया गया। वापस आने पर यज्ञ की तैयारी होने लगी। यज्ञ के आरम्भ में नियम के अनुसार एक ऐसे श्रेष्ठ मनुष्य का निर्वाचन आवश्यक था जिसकी पूजा सबसे पहले की जाय। महाभारत में एतद्विषयक वाद-विवाद का दृश्य बड़े सुन्दर ढङ्ग से खींचा गया है। इसमें एक तरफ़ के लोग, जिनके नेता भीष्म पितामह थे, पूजा का स्थान देश के सर्वश्रेष्ठ मनुष्य श्रीकृष्ण को देना चाहते थे। दूसरी तरफ़ भी कई राजा लोग थे। इनका अगुआ शिशुपाल था। ये लोग श्रीकृष्ण को नीचा दिखलाना चाहते थे। अन्त में शिशुपाल और श्रीकृष्ण के दर्मियान द्वन्द्व हुआ। श्रीकृष्ण ने एक बार ही सुदर्शन चक्र चलाया जिससे शिशुपाल का सिर उड़ गया। तब सबसे पहले श्रीकृष्ण की पूजा की गई। इससे श्रीकृष्ण का दर्जा सबसे ऊँचा हो गया और वे देवताओं की सी पदवी पर जा पहुँचे।

युधिष्ठिर को जुए की चुनौती

यज्ञ की सफलता देखकर दुर्योधन की ईर्ष्या की कोई सीमा न रही। उसने फिर किसी न किसी बहाने पाण्डवों को गिराना चाहा। अपने मामा शकुनि की सहायता से एक जाल बनाकर उसने पाण्डवों को अपने मकान पर बुला भेजा। वहाँ उसने युधिष्ठिर को जुआ खेलने का निमन्त्रण दिया। यह एक प्रकार से चुनौती थी। एक क्षत्रिय का दूसरे क्षत्रिय की तरफ़ से दिये गये चैलेंज को मंज़ूर करना ही उस समय धर्म समझा जाता था। युधिष्ठिर मान

गया। कपटी शकुनि जुआ खेलने में सिद्धहस्त था। उसे विश्वा
था कि युधिष्ठिर बड़ा धर्मात्मा है; वह क्षत्रिय के चैलेंज को कभ
अस्वीकार न करेगा। युधिष्ठिर ने सारा धन आदि और यज्ञ में प्रा
उपहार जुए में हार दिये, राज्य हार दिया, अपने भाइयों और अप
आपको भी हार दिया। तब उससे द्रौपदी को बाज़ी पर लगाने
लिए कहा गया। युधिष्ठिर ने द्रौपदी भी हार दी। जब बाद
पांचाली को बड़ी बेइज़्ज़ती के साथ बाँधकर भरी सभा में लाया गया, त
उसने भीष्म के सामने बड़ी भारी युक्ति पेश की, 'अपने आपक
हार देने के बाद युधिष्ठिर को मुझे बाज़ी पर लगा देने का कोई अधिका
न था।' इसे सुनकर भी भीष्म चुपचाप बैठे रहे। इस सारे खेल क
परिणाम यह हुआ कि पाण्डवों को तेरह वर्ष के लिए वनों में जाना पड़ा
इस निर्वासन-काल में श्रीकृष्ण पाण्डवों के कुशल की ख़बर बरा
बर लेते रहे। वनवास समाप्त करने पर पाण्डवों ने इस बात का प्रयत्न
किया कि दुर्योधन उनके निर्वाह के लिए कुछ प्रदेश दे दे। परन्तु वह
तिल भर भी जगह देने पर राज़ी न हुआ। अन्त में पञ्चाल-नरेश, विराट
और श्रीकृष्ण की मदद से पाण्डवों ने लड़ाई के द्वारा अपना भाग लेने
के लिए युद्ध की तैयारी शुरू कर दी।

पाण्डव और दूत सञ्जय

पाण्डव अभी विराट-नगर में ही थे कि कौरवों के पिता धृतराष्ट्र की
तरफ़ से महाविद्वान् सञ्जय पाण्डवों के पास दूत बनकर आया। उसने
पहले तो स्पष्ट शब्दों में यह कहा कि पाण्डवों के साथ बड़ा अन्याय हुआ
है। दुर्योधन ने कई बार उनके साथ कपट किया है। परन्तु फिर यह

कह दिया—क्योंकि दोनों ओर एक ही वंश है इसलिए युद्ध करना उचित नहीं। ऐसा करने से एक राज-घराना तो नष्ट होगा ही, साथ ही अन्य लाखों क्षत्रिय भी मारे जायँगे। इसलिए अब सन्तोष और शान्ति करना ही उत्तम बात है।

इसका उत्तर श्रीकृष्ण ने भरी सभा में यों दिया—"आप वेदों और शास्त्रों के इतने बड़े विद्वान् होकर क्षत्रिय को धर्म-युद्ध से रोकना चाहते हैं! अन्याय को दूर करने और निर्बल की रक्षा करने के लिए ही क्षत्रिय बनाये गये हैं। शास्त्रों की रचना भी इसी लिए की गई है। यदि क्षत्रिय अपना धर्म छोड़ देंगे तो बाक़ी वर्णों के धर्मों का नाश अपने आप हो जायगा। जिस प्रकार रोटी शब्द कहने से ही भूखे का पेट नहीं भरता उसी प्रकार बिना कर्म के कोरा ज्ञान किसी काम का नहीं।"

संजय वापस चला गया। इसके बाद स्वयं श्रीकृष्ण पांडवों की ओर से धृतराष्ट्र की सभा में पहुँचे जिससे उनका हक़ दिलाने की कोशिश करें। वे जानते थे कि दुर्योधन उनकी बात न सुनेगा। परन्तु उनकी राय थी कि यह कलंक भी उसी के माथे पर लगाना चाहिए।

युद्ध की तैयारियाँ पूरी हुईं। दोनों ओर से फ़ौजें कुरुक्षेत्र में मुक़ाबले के लिए एकत्र हुईं। श्रीकृष्ण अर्जुन के रथवाह बने। अर्जुन इधर का सेनापति था। दूसरी ओर भीष्म पितामह थे। अर्जुन का रथ जब दोनों ओर की सेनाओं के बीच में खड़ा हुआ, तब उसे दोनों ही तरफ़ अपने भाई, गुरु और आचार्य नज़र आये। फलतः वह मोह के समुद्र में डूब गया। उदास होने के कारण उसकी आँखों से आँसू निकल पड़े। यह कहकर कि "यह तो छोटा सा राज्य है और मैं तो तीन लोक

के राज्य के लिए भी इनको हनन न करूँगा" अर्जुन ने श्रीकृष्ण के साम
हथियार रख दिये।

अब श्रीकृष्ण के सामने यह बड़ी कठिनता थी। बस, इसी
हल भगवद्गीता है।

अर्जुन की कठिनता

मनुष्यों की तरह जातियों के जीवन में भी कई बार ऐसी नाज़ुक स्थि
आ जाती है कि उन्हें मालूम नहीं होता कि धर्म क्या है और अधर्म क्या
ऐसे अवसरों पर उनके सामने एक बड़ी कठिन और पेचीदा पहेली खड़
हो जाती है जिसका हल उन्हें दिखलाई नहीं देता। दोनों ओर
युक्तियाँ पेश की जाती हैं। बड़े-बड़े शूर-वीरों और त्यागियों की अक़
चकरा जाती है और अधर्म उनको धर्म के रूप में नज़र आने लगता है
जिनको संसार से इतना विराग होता है कि वे अपना सर्वस्व त्या
देते हैं, उनकी बुद्धि भी भय के वश में होकर उलटे विचारों में प
जाती है। भगवद्गीता में इस सम्बन्ध का ज्ञान पाया जाता है
इसको भली भाँति समझ लेने से मनुष्य में वह विवेक पैदा
जाता है जिससे वह धर्म-अधर्म को ठीक तौर पर पहचान सक
है। इस बात को स्वयं अर्जुन ने अध्याय १८ के श्लोक १३वें
स्वीकार किया है। पहले उसका मन एक गहरे और कठिन संशय
पड़कर अन्धकार में चक्कर लगा रहा था। श्रीकृष्ण का उपदेश सुन
के बाद अन्त में उसने यह अनुभव किया—"आपकी कृपा से मु
सत् ज्ञान प्राप्त हो गया है। मेरा वह मोह दूर हो गया है, मेरे वे संश
छिन्न-भिन्न हो गये हैं। मैं वही करूँगा जिसकी आज्ञा आप करेंगे।"

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने तीन विभिन्न मार्गों से वह ज्ञान अर्जुन को समझाने की कोशिश की है। प्रथम भाग, पहले से छठे अध्याय तक, में कर्म, त्याग और ज्ञान पर बहुत गूढ़ विवाद है। दूसरे, अध्याय ७ से १२ तक, में यह बतलाया गया है कि इस समस्त संसार का, जो दृष्टिगोचर है, बीज आत्मा मैं हूँ; यह मुझसे उत्पन्न होता और सहारा पाता है। तीसरे भाग, अध्याय १३ से १८ तक, में यह बतलाया गया है कि किस प्रकार प्रकृति के गुण--तम, रज और सत्त्व--ब्रह्माण्ड के अन्दर काम करते हैं और किस प्रकार यह समस्त बाह्य संसार एक ही शक्ति से उत्पन्न होता है।

श्रीकृष्ण के विभिन्न रूप

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण पहले तो अर्जुन के रथवाह हैं। फिर वे उसे ज्ञान का उपदेश देनेवाले दिखाई देते हैं। आगे चलकर वे अर्जुन को बताते हैं कि "मैं महायोगी और महाज्ञानी हूँ।" चौथे अध्याय में कहते हैं--"मैं उचित समय पर दुष्टों का नाश और धर्म की रक्षा करने के लिए जन्म लेता हूँ।" छठे में उन्होंने यहाँ तक कह दिया--"सभी भूतों और पदार्थों की आत्मा मैं ही हूँ।" दूसरे भाग में स्पष्ट तौर पर यह बताया गया है--"सारा ब्रह्माण्ड मेरा ही खेल है।"

यह एक बड़ी भारी पहेली है कि किस प्रकार एक ही मनुष्य यह सब कुछ कह सकता है। इसका उत्तर तो साधारण है। एक ही मनुष्य किसी का बेटा, किसी का बाप, किसी का गुरु, किसी का शिष्य--विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। इस प्रकार एक ही मनुष्य के कई पहलू होते हैं। एक अमेरिकन लेखक का कथन है कि जब

२

दो मनुष्यों में ग़लतफ़हमी के कारण नाराज़गी पैदा होती है, तब इसक असली सबब यह होता है कि वे दो नहीं बल्कि छः मनुष्य होते हैं जिसं झगड़े का मौक़ा निकल आता है। वह किस प्रकार? उन दोनों में हर एक अपने आपको कुछ समझता है, दूसरा आदमी उसको कुछ औ ख़याल करता है, परन्तु वास्तव में वे दोनों कुछ और ही होते हैं।

दूसरे, हर एक मनुष्य वाह्य और आन्तरिक शरीर, जीव और आत्मा से बना होता है। दूसरी चीज़ को जानना अपने मन की अवस्था प निर्भर होता है। अज्ञानी तो सिर्फ़ वाह्य शरीर को देख सकता है विचारवान् शरीर को ही नहीं बल्कि गुणों को भी देखता है। परन्तु ज्ञा शरीर और गुणों को छोड़कर केवल आत्मा को देखता है। इस विष में एक दृष्टान्त दिया गया है। एक समय श्री रामचन्द्र ने वीर हनुमा से पूछा—"हमारे साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध है?" वीर हनुमान् सोच रहे कि एक उत्तर देने से मूर्ख लोग मुझे अभिमानी कहेंगे और दूसरा दे से ज्ञानी मुझे अज्ञानी कहेंगे। सोचकर अन्त में उन्होंने यह जव दिया—"महाराज, शरीर की दृष्टि से तो मैं आपका दास हूँ, जीव की दृष्टि से आपका अंश और आत्मा की दृष्टि से आपका स्वरूप।" ईसा अ आपको ख़ुदा का बेटा कहते थे। परन्तु एक अवसर पर उन्होंने इसके विरुद्ध यह कहा—"मैं और मेरा पिता एक ही हैं।"

———

तीसरा परिच्छेद

ज्ञान की सापेक्षता

तीन प्रकार के प्रमाण

न्यायदर्शन में पदार्थ को जानने के तीन प्रमाण बताये गये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। शब्द प्रमाण में आप्त पुरुषों के कथन, इतिहास आदि आते हैं। परन्तु यह इस दृष्टि से बहुत कमज़ोर है कि जनसाधारण बेसमझी से या किसी मतलब को सामने रखकर झूठ की तरफ़ झुक जाते हैं। मज़हबी चमत्कार और करामात साधारणतया अनु-तरदायी मनुष्यों की गवाही के आधार पर चलाये गये हैं इसलिए वे वश्वसनीय नहीं कहे जा सकते।

जब दो चीज़ों का सम्बन्ध सदा एक स्थान पर पाया जाता हो तब हाँ पर एक-दूसरे की उपस्थिति का परिणाम निकालना अनुमान कहलाता ; जैसे धूएँ को देखकर आग का ख़याल करना। विचार करने पर लूम होता है कि अनुमान प्रत्यक्ष ज्ञान पर ही निर्भर होता है। प्रत्यक्ष न बार-बार होने के बाद ही अनुमान का ख़याल पैदा होता है। वास्तव केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही ज्ञान प्राप्त करने का साधन है। प्रत्यक्ष वह न है जो हमें इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होता है।

इस प्रकार हम समस्त ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा ही प्राप्त करते हैं। ारी ज्ञान-इन्द्रियाँ—आँख, नाक, कान जीभ और त्वचा—विशेष

रगों* के द्वारा मस्तिष्क या दिमाग़ से सम्बद्ध हैं। दिमाग़ एक प्रकार का केन्द्रीय तारघर है जहाँ से वे रगें तारों की तरह शरीर के हरएक भाग में पहुँचती हैं। ये रगें दो प्रकार की हैं—एक क्रिया-सम्बन्धी† जो शरीर पर होनेवाले हर एक बाह्य संस्कार को सन्देश के रूप में मस्तिष्क तक पहुँचाती हैं, दूसरी ज्ञान-सम्बन्धी‡ जो मस्तिष्क से सभी आदेशों को शरीर के विभिन्न भागों तक ले जाती हैं। उदाहरणार्थ जब कोई ठंढी या गरम, सख़्त या नरम चीज़ बाहर से त्वचा के साथ छूती है तब वहाँ की क्रिया-सम्बन्धी रग तत्काल इस संस्कार को दिमाग़ तक पहुँचा देती है। फिर दिमाग़ से शरीर के उस भाग को पीछे हटने या वहीं रहने का आदेश ज्ञान-सम्बन्धी रग के द्वारा मिलता है। ये सारी क्रियाएँ बहुत ही थोड़े समय के अन्दर होने से हमको आप से आप ही होती हुई मालूम देती हैं। इस प्रकार का संस्कार जब एक बार होकर दोबारा किसी इन्द्रिय पर होता है तब दिमाग़ में एक नई अनुभूति काम करती है कि यह संस्कार पहले भी मुझ पर हुआ है। यह अनुभूति ज्ञान की नींव है। बाल्य-काल से ही ये संस्कार बार-बार हमारी इन्द्रियों पर होते हैं। इस प्रकार हमारे दिमाग़ में ज्ञान का कोष दिन प्रतिदिन बढ़ता जाता है।

ज्ञान के साधन – इन्द्रियाँ

केवल इन्द्रियाँ ही हमारे ज्ञान के साधन हैं, इस कारण स्वभावतः यदि इन्द्रियों में भेद हो तो ज्ञान में भी भेद होगा। जो मनुष्य जन्म से

---

* रगें = Nerves (नर्व्ज)।

† क्रिया-सम्बन्धी रग = Motor nerve (मोटर नर्व)।

‡ ज्ञान-सम्बन्धी रग = Sensory nerve (सेंसरी नर्व)।

अन्धे और बहरे होते हैं उनको संसार की विभिन्न चीज़ों की शक्लों या नामों का कोई ज्ञान नहीं हो सकता। इस कमी को पूरा करने के लिए उनकी दूसरी इन्द्रियाँ असाधारण तौर पर तेज़ हो जाती हैं। कई अन्धे केवल हाथ से टटोलकर बरसों के बाद मिलनेवाले आदमी को भी पहचान लेते हैं। कई प्राणियों की इन्द्रियाँ दूसरे प्राणियों की इन्द्रियों से बहुत भिन्न होती हैं। इसलिए चीज़ों के सम्बन्ध में उनका ज्ञान भी भिन्न होता है। उदाहरणार्थ कुत्ते में सूँघने की शक्ति और बाज़ में देखने की शक्ति इतनी अधिक होती हैं कि ये हमारे ख़याल से बाहर हो जाती हैं। शिकार के पाँव के निशानों को ज़मीन पर सूँघकर कुत्ता उसकी तलाश कर सकता है। आम कहावत है कि किस प्रकार कुछ अन्धों ने हाथी को केवल हाथों से टटोलने के बाद उसके आकार को विभिन्न प्रकार से वर्णन किया। एक ने उसे बड़ी सूँड़वाला बताया, दूसरे ने चौड़े-चौड़े कानोंवाला, तीसरे ने पूँछवाला और चौथे ने दाँतोंवाला। एक वस्तु का ज्ञान मनुष्य को एक विशेष प्रकार का होता है। लेकिन उसी वस्तु के ज्ञान का नक़्शा चिउँटी या मछली के दिमाग़ पर उससे सर्वथा भिन्न होता है।

बीच में अन्तर होने से ज्ञान में परिवर्तन

पदार्थों और हमारी इन्द्रियों के बीच अन्तर या फ़ासला घट-बढ़ जाने से या बीच में किसी अन्य वस्तु के आ जाने से उनके सम्बन्ध में हमारा ज्ञान बदल जाता है। एक पहाड़ को चार मील से देखने पर उसका एक रूप दिखाई देता है, दो मील पर और, एक मील पर और, आध मील पर और, सौ गज़ पर और। इस प्रकार इस फ़ासले के पाँच भाग करने पर उस पहाड़ की शक्ल में कितने ही परिवर्तन हो

रगों* के द्वारा मस्तिष्क या दिमाग़ से सम्बद्ध हैं। दिमाग़ एक प्रकार का केन्द्रीय तारघर है जहाँ से वे रगें तारों की तरह शरीर के हरएक भाग में पहुँचती हैं। ये रगें दो प्रकार की हैं--एक क्रिया-सम्बन्धी† जो शरीर पर होने-वाले हर एक बाह्य संस्कार को सन्देश के रूप में मस्तिष्क तक पहुँचाती हैं; दूसरी ज्ञान-सम्बन्धी‡ जो मस्तिष्क से सभी आदेशों को शरीर के विभिन्न भागों तक ले जाती हैं। उदाहरणार्थ जब कोई ठंढी या गरम, सख़्त या नरम चीज़ बाहर से त्वचा के साथ छूती है तब वहाँ की क्रिया-सम्बन्धी रग तत्काल इस संस्कार को दिमाग़ तक पहुँचा देती है। फिर दिमाग़ से शरीर के उस भाग को पीछे हटने या वहीं रहने का आदेश ज्ञान-सम्बन्धी रग के द्वारा मिलता है। ये सारी क्रियाएँ बहुत ही थोड़े समय के अन्दर होने से हमको आप से आप ही होती हुई मालूम देती हैं। इस प्रकार का संस्कार जब एक बार होकर दोबारा किसी इन्द्रिय पर होता है तो दिमाग़ में एक नई अनुभूति काम करती है कि यह संस्कार पहले भी मुझ पर हुआ है। यह अनुभूति ज्ञान की नींव है। बाल्य-काल से ही ये संस्कार बार-बार हमारी इन्द्रियों पर होते हैं। इस प्रकार हमारे दिमाग़ में ज्ञान का कोष दिन प्रतिदिन बढ़ता जाता है।

ज्ञान के साधन – इन्द्रियाँ

केवल इन्द्रियाँ ही हमारे ज्ञान के साधन हैं, इस कारण स्वभावतः यदि इन्द्रियों में भेद हो तो ज्ञान में भी भेद होगा। जो मनुष्य जन्म से

---

* रगें = Nerves (नर्व्ज)।

† क्रिया-सम्बन्धी रग = Motor nerve (मोटर नर्व)।

‡ ज्ञान-सम्बन्धी रग = Sensory nerve (सेंसरी नर्व)।

अन्धे और बहरे होते हैं उनको संसार की विभिन्न चीज़ों की शक्लों या नामों का कोई ज्ञान नहीं हो सकता। इस कमी को पूरा करने के लिए उनकी दूसरी इन्द्रियाँ असाधारण तौर पर तेज़ हो जाती हैं। कई अन्धे केवल हाथ से टटोलकर बरसों के बाद मिलनेवाले आदमी को भी पहचान लेते हैं। कई प्राणियों की इन्द्रियाँ दूसरे प्राणियों की इन्द्रियों से बहुत भिन्न होती हैं। इसलिए चीज़ों के सम्बन्ध में उनका ज्ञान भी भिन्न होता है। उदाहरणार्थ कुत्ते में सूँघने की शक्ति और बाज़ में देखने की शक्ति इतनी अधिक होती हैं कि ये हमारे ख़याल से बाहर हो जाती हैं। शिकार के पाँव के निशानों को ज़मीन पर सूँघकर कुत्ता उसकी तलाश कर सकता है। आम कहावत है कि किस प्रकार कुछ अन्धों ने हाथी को केवल हाथों से टटोलने के बाद उसके आकार को विभिन्न प्रकार से वर्णन किया। एक ने उसे बड़ी सूँड़वाला बताया, दूसरे ने चौड़े-चौड़े कानोंवाला, तीसरे ने पूँछवाला और चौथे ने दाँतोंवाला। एक वस्तु का ज्ञान मनुष्य को एक विशेष प्रकार का होता है। लेकिन उसी वस्तु के ज्ञान का नक़्शा चिउँटी या मछली के दिमाग़ पर उससे सर्वथा भिन्न होता है।

बीच में अन्तर होने से ज्ञान में परिवर्तन

पदार्थों और हमारी इन्द्रियों के बीच अन्तर या फ़ासला घट-बढ़ जाने से या बीच में किसी अन्य वस्तु के आ जाने से उनके सम्बन्ध में हमारा ज्ञान बदल जाता है। एक पहाड़ को चार मील से देखने पर उसका एक रूप दिखाई देता है, दो मील पर और, एक मील पर और, आध मील पर और, सौ गज़ पर और। इस प्रकार इस फ़ासले के पाँच भाग करने पर उस पहाड़ की शक्ल में कितने ही परिवर्तन हो

कहते हैं कि जब एक एक इन्द्रिय इन जानवरों को इतना क्लेश पहुँचाती है तब बेचारे मनुष्य का क्या कहना जो सभी इन्द्रियों के वश में पड़ा हुआ है।

इस प्रकार के अज्ञान का एक मोटा सा दृष्टान्त है। किसी खेत में एक सूखे हुए वृक्ष का तना खड़ा था। रात के वक़्त अँधेरे में चौकीदार ने उसे चोर समझकर साहस तो किया, परन्तु डरते-डरते ही उसकी ओर क़दम बढ़ाया। अपने खोये हुए गधे की खोज में धोबी तने को गधा समझकर उसके पास गया। मोह के वशीभूत हुई युवती उसे अपना प्रीतम समझकर उसकी तरफ़ टकटकी लगाकर देखने लगी।

इन्द्रियों के वश में पड़े हुए अज्ञान का अनुमान हमको गौतम बुद्ध के एक शिष्य भिक्षु की कथा से भी भली भाँति होता है। एक बड़ा सुन्दर नवयुवक भिक्षु गाँव में भिक्षा माँगने जाया करता था। गाँव के शुरू में ही रहनेवाली एक ललना, जो उसे देखकर मोहित हो गई थी, उसे थाली भरकर आटा दे देती। इसे काफ़ी समझकर वह वापस चला जाता। कुछ दिन गुज़रने पर उस स्त्री ने भिक्षु से अपने मन की इच्छा इस तरह प्रकट की--"महाराज, मैं आपके नयनों पर मर रही हूँ।" भिक्षु ने सलाई से अपनी दोनों आँखें निकालकर उसके हवाले कर दीं।

इसी प्रकार का एक अन्य दृष्टान्त एक युवती का है जिसने 'राजा को ज्ञान का मार्ग बताया। वह युवती बड़ी शुद्धाचारिणी थी। एक राजा उस पर मोहित हो गया। राजा ने विवाह का प्रस्ताव किया। युवती ने तीन दिन की मोहलत माँगी। इस बीच में उसने सख़्त जुलाब ले लिया। साथ ही नौकरानी को यह कह दिया कि शरीर के अन्दर से निकलनेवाले सारे मल को एक ठीकरे में जमा रखती जाओ। तीन दिन के बाद

उसका शरीर हड्डियों का पिंजर-सा रह गया। अब उसने राजा को बुला भेजा। उसकी शकल न पहचान कर राजा इधर-उधर देखने लगा। इस पर युवती ने कहा—"अब आप मुझे देखना भी नहीं चाहते।" ठीकरे की तरफ़ इशारा करके उसने बताया—"वह चीज़ है जो मेरे अन्दर होने पर आप मुझ पर इतने मोहित थे। इस ठीकरे को आप ही अपने साथ ले जाइए।"

सोपाधि ज्ञान और माया

सोपाधि, अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त किये गये, ज्ञान को माया नाम दिया गया है। इन्हीं अर्थों में यह संसार माया-रूपी एक खेल है, जिसमें जीवात्मा फँसा हुआ है। ब्रह्माण्ड की बनावट में मनुष्य भी इस बड़ी मशीन का एक पुरज़ा है। इसे दूसरी चीज़ों का निर्विकल्प ज्ञान* होना सम्भव नहीं। हम साधारण अवस्था में बाह्य संसार के इतने प्रभावाधीन होते हैं कि उसकी वास्तविकता की ओर ध्यान देने का कभी ख़याल भी नहीं आता। ऐसे ही जैसे एक मनुष्य थियेटर के अन्दर बैठा हुआ नाटक देखता है या एक आदमी किसी उपन्यास को पढ़ रहा होता है। वह उस समय के लिए उस नाटक या उपन्यास में इतना फँस जाता है कि उसको ही वास्तविक समझकर उससे उसी प्रकार सुख-दुःख अनुभव करता है जिस प्रकार हम अपनी दुनिया में करते हैं। वह असली ज्ञान को इतना भूल जाता है कि उसे ख़याल ही नहीं आता कि मैं तमाशा देख रहा हूँ या उपन्यास पढ़ रहा हूँ।

---

* निर्विकल्प ज्ञान = Absolute-knowledge (एब्सोलूट नालेज)।

संसार का सारा ज्ञान हमको इन्द्रियों के द्वारा ही प्राप्त होता है। ये इन्द्रियाँ बहुत ही निर्बल और अपूर्ण हैं। इसलिए यह निष्कर्ष साफ़ है कि हमें किसी चीज़ का निरपेक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। जब हम उस संसार को ही नहीं जान सकते, जिससे हम इतने परिचित हैं, तथा ब्रह्म का, जो इंद्रियों की शक्ति से कहीं परे है, ज्ञान किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं ? साधारणतया मनुष्य ईश्वर का चित्र अपने दिमाग़ से बनाता है, अर्थात् जो गुण उसे अधिक पसन्द होते हैं उनके अनुसार ईश्वर का एक रूप बना लेता है। ईश्वर को छोड़ दीजिए। हम तो महापुरुषों को भी अपने-अपने स्वभाव के झुकाव के अनुसार देखते हैं। उदाहरणार्थ गुरु गोविन्द शत्रुओं की दृष्टि में तो इसलाम के बड़े ख़तरनाक दुश्मन थे, परन्तु हिन्दू उन्हें राष्ट्रीय धर्म के रक्षक समझते थे; गुरु-भक्त सिख उन्हें ईश्वर ख़याल करते थे और समाजवादी* विचार रखनेवाले सिख उन्हें बड़ा वर्गवादी† बतलाते हैं। इसी प्रकार जिन ख़ूबियों को मनुष्य पसन्द करता है, उन्हें पूर्णता का दर्जा देकर वह ईश्वर के अन्दर डाल देता है। हम प्रेम को अच्छा समझते हैं इसलिए कहते हैं—ईश्वर सबसे प्रेम करता है। हम दया को अच्छा ख़याल करते हैं और कहते हैं, ईश्वर बड़ा न्यायकारी है। इसी प्रकार कई मनुष्य उसे क़हहार या विपत्तिकर्त्ता और जब्बार या जब्र करनेवाला भी बना लेते हैं। भगवद्गीता के अध्याय १३ के श्लोक १४ में कहा गया है कि जिसे इतने गुणोंवाला कहा जाता है वह वास्तव में निर्गुण है।

* समाजवादी = Socialist (सोशलिस्ट)।

† वर्गवादी = Communist (कम्युनिस्ट)।

इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण हमको उस प्रश्न के रूप में मिलता है जो जनसाधारण की ज़बान पर पाया जाता है—'ईश्वर ने इस संसार को क्यों बनाया ? इसके रचने में उसका क्या उद्देश है ?' बात यह है कि हमारे समस्त जीवन का प्रवाह हमें एक ही शिक्षा देता है। हम कोई काम बग़ैर मतलब के नहीं करते। हर एक काम में हमारा मतलब उसके साथ मिला हुआ रहता है। हमारे दिमाग़ की बनावट ही ऐसी हो चुकी है कि हम इस संसार को बिना किसी प्रयोजन के रचा हुआ ख़याल नहीं कर सकते। जिस ब्रह्म को हमारे लिए जानना ही सम्भव नहीं उसके विषय में ऐसे प्रश्न करना, 'उसने ऐसा क्यों किया ? इसमें उसका क्या प्रयोजन है' कुछ अर्थ नहीं रखता। भगवद्गीता के तीसरे अध्याय का दसवाँ श्लोक साफ़ बतलाता है कि इस ब्रह्म ने प्रजा को यज्ञ से, अर्थात् बिना किसी प्रयोजन के, रचा है।

सापेक्ष और निरपेक्ष ज्ञान

व्यवहार में हमारा ज्ञान केवल सापेक्ष ही होता है। भगवद्गीता के दूसरे अध्याय के श्लोक ५६ और चौदहवें अध्याय के श्लोक २४ आदि में कहा गया है कि बुद्धिमान् मनुष्य की दृष्टि में सुख-दुःख, प्रशंसा-निन्दा, प्रेय-श्रेय, सोना-पत्थर एक-से हैं। संसार में हमें एक-दूसरे के विरुद्ध जितने द्वंद्व दिखलाई देते हैं वे निरपेक्ष तौर पर देखने से एक ही रूप धारण किये मालूम देते हैं। उनमें अन्तर सिर्फ़ दर्जे का होता है, जिन्स का नहीं। विज्ञान* के क्षेत्र में हम जानते हैं कि विद्युत् की लहर एक ही

* विज्ञान = Science (सायंस)।

शक्ति है। इसका ऋण और धन* होना एक काल्पनिक सिद्धान्त है। इसी प्रकार जीवन-मृत्यु, सरदी-गर्मी, भलाई-बुराई, भी हमारे व्यवहार के लिए केवल परिभाषाएँ बनी हुई हैं। दायाँ और बायाँ स्वयमेव कुछ नहीं हैं। थोड़ी-सी गति एक ही चीज़ को दायें से बायें कर देती है। जो हमारा उत्तर है वह थोड़ी-सी गति से हमारा दक्षिण हो जाता है। अमेरिका के शहर वाशिंगटन में राजधानी की इमारत की छत की बनावट ऐसी है कि उसकी चोटी पर वर्षा में जो बूँदें गिरती हैं, बाल भर का फ़र्क होने से उनमें से एक बूँद उत्तर की ओर लारेंस की खाड़ी में और दूसरी दक्षिण की ओर मेक्सीको की खाड़ी में एक-दूसरे से हज़ारों मील की दूरी पर जा पड़ती है। सोलहवीं सदी के विद्वानों की दुनिया इस क़दर पीछे थी कि जब कोलम्बस ने स्पेन के बादशाह के सामने अमेरिका को मालूम करने का मामला पेश किया तब बादशाह ने यह मामला विश्वविद्यालय के विद्वानों के सामने रक्खा। उन्होंने फ़ैसला दिया कि अगर कोई ऐसा देश पृथ्वी के नीचे मौजूद है तो वहाँ के निवासी सिर नीचे और पाँव ऊपर करके चलते होंगे। इस कारण ऐसे लोगों के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध पैदा करना उचित नहीं। उस समय के विद्वान् यह भी न समझ सकते थे कि ऊपर और नीचे दो काल्पनिक परिभाषाएँ हैं जो हमने ही अपने व्यवहार के लिए बनाई हैं।

---

* ऋण विद्युत् = Negative Electricity (निगेटिव इलेक्ट्रिसिटी)। धन विद्युत् = Positive Electricity (पॉज़िटिव इलेक्ट्रिसिटी)।

सुख और दुःख में अन्तर

सुख और दुःख के बारे में यही सिद्धान्त काम करता है। दुनिया का तजरुबा हमें सिखलाता है कि हर प्रकार के सुख के वास्ते थोड़ा-बहुत दुःख उठाना आवश्यक होता है अर्थात् सुख के अन्दर ही दुःख का अस्तित्व विद्यमान होता है। ख़ुशी की खोज ही संसार में दुःख का सबसे बड़ा कारण है। इसी कारण मनुष्य को सुख की अपेक्षा दुःख से अधिक अनुभव और ज्ञान प्राप्त होते हैं। हम मज़दूरी के बदले में एक बोझ उठाकर ले जाते हैं। इसमें कोई दुःख या सुख नहीं होता। इस बोझ को बेगार में ले जाने पर हमें दुःख होता है। परन्तु यही बोझ अपने प्यारे मित्र के लिए उठाने में हमें सुख प्राप्त होता है।

एक लड़का वर्षों तक श्रम करता और कष्ट उठाता है। इससे उसको विद्या-प्राप्ति का आनन्द मिलता है। इसी प्रकार संसार में ऐसे हर एक काम के लिए, जिसके अन्त में हमें ख़ुशी की आशा हो सकती है, हमारे लिए पहले परिश्रम करना आवश्यक होता है। यहाँ तक कि शारीरिक स्वास्थ्य क़ायम रखने के लिए भी प्रतिदिन थोड़ा-बहुत व्यायाम करना, जो उस समय दुःख-सा मालूम होता है, आवश्यक है। संसार में रुपया कमाने के लिए संघर्ष कितना है। एक आदमी को रुपया कमाने में सफलता होती है। उसे सुख प्रतीत होता है। असफल मनुष्यों के लिए वही बात दुःख सिद्ध होती है। मुक़दमे में एक पक्ष जीत जाता है। उसको हर्ष होता है। दूसरे पक्ष को इसी से खेद होता है। वर्षा होती है। रास्ते में चलता मुसाफ़िर उससे कितना दुःख उठाता है, बल्कि वह तो दिल में जलता है। लेकिन इसी वर्षा से किसानों के दिल

कितने .खुश होते हैं। इसका एक सुन्दर उदाहरण उस लोमड़ी का है जिसके पीछे शिकारी कुत्ते लगे हुए थे। वह बहुत थक गई। कुत्तों की तरफ़ मुड़कर उसने पूछा—"आख़िर तुम यह तो बताओ कि तुम मेरे पीछे क्यों पड़े हो।" एक ने जवाब दिया—"सिर्फ़ तमाशा देखने के लिए।" अब लोमड़ी बोली—"क्या तुम यह भी जानते हो कि जो बात तुम्हारे लिए तमाशा है वही मेरे लिए मौत है ?" युद्ध में जहाँ एक पक्ष विजय के कारण .खुशियाँ मनाता है वहाँ दूसरा पराजय के शोक में डूबा होता है।

कई बार सुख-दुःख दोनों का अस्तित्व काल्पनिक होता है। एक गायक किसी धनी के यहाँ कुछ समय तक गाता रहा। अन्त में धनी ने कहा—"कल आना। तुमको इनाम दिया जायगा।" गवैया .खुशी-.खुशी घर चला गया। जब अगले दिन आकर उसने इनाम माँगा तो धनी ने कहा—"जिस प्रकार बातों से तुमने मेरे चित्त को प्रसन्न किया उसी प्रकार मैंने भी एक बात कहकर तुमको रात भर .खुश रक्खा।"

भलाई और बुराई का अस्तित्व

आम लोग संसार में बीमारी और दुःख को देखकर घबरा उठते हैं। बहुत से लोग तो इनको इस संसार के बनानेवाले के विरुद्ध एक बड़ा इल्जाम समझते हैं। वे कहते हैं—"अगर सचमुच कोई ईश्वर है तो वह संसार से इन बीमारियों को दूर क्यों नहीं कर देता ?' स्पेन के बादशाह एल्फ़ांसो ने ऐसे ही लोगों का मत प्रकट किया, जब यह कहा—"यदि मैं संसार की रचना के समय विद्यमान होता तो .खुदा को यह संसार बेहतर बनाने की मंत्रणा देता।" जब कोई भूचाल या बाढ़ आती है तो कई

नास्तिक ईश्वर में विश्वास रखनेवालों से कहते हैं—"तुम अपने ईश्वर को क्यों नहीं बुलाते ताकि वह तुम्हारी मुसीबतों को आकर रोके ?" संसार में इतनी बुराई को देखकर वे ऐसे घबरा जाते हैं कि उनके दिमाग़ में एक प्रकार की बीमारी पैदा हो जाती है जिसका इलाज करना मुश्किल हो जाता है।

कहते हैं एक बुढ़िया ने कई एक ऊँटों पर रूई के लदे हुए बोरे, देखे। उसको यह चिन्ता लगी कि इतनी रूई कौन कातेगा। इसी चिन्ता में वह पागल हो गई। किसी इलाज से उसकी बीमारी दूर न हुई। अन्त में एक अनुभवी हकीम ने बीमारी का कारण मालूम करके उसके कानों तक यह ख़बर पहुँचाई कि रूई के उन बोरों में आग लग गई है। आश्चर्य में बुढ़िया ने पूछा—"क्या वे सभी जल गये हैं ?" बस, इसके साथ ही उसके होश-हवास फिर से ठीक हो गये।

बीमारी में भूल का सुधार और मृत्यु में भलाई

थोड़ा विचार करने पर मालूम होता है कि ये बीमारियाँ और मौत भलाई के भी वैसे ही नमूने हैं, जैसे बुराई के। रोग वास्तव में क्या है ? यह हमारी शारीरिक भूलों का सुधार होता है। उदाहरणार्थ, जब हमें क़ै या उलटी आती है, तब उसका अर्थ यह होता है कि हमने कोई ऐसी चीज़ खा ली है जिसे हमारा मेदा अपने अन्दर से निकालने का यत्न कर रहा है। जब किसी घाव में पीब पड़ जाती है तब वह एक प्रकार से हमारे ख़ून के संघर्ष का परिणाम होती है, क्योंकि वह अपने अन्दर से उस गन्दे माद्दे को बाहर निकालना चाहता है जो हम प्रायः अपनी ग़लती से

अन्दर दाख़िल कर लेते हैं। इसी प्रकार कई बार ऐसा होता है कि हम गले के अन्दर थोड़ी-सी ख़ारिश को ख़ारिश न समझकर, जो प्रायः ज़रा गरम-सरद होने से पैदा हो जाती है, अपने अन्दर बलग़म का आधिक्य ख़याल करते हैं और वर्षों तक हर सुबह कफ को बाहर निकालने की कोशिश करते रहते हैं। हमारी अपनी आदतें और ग़लतियाँ ही प्रायः हमारी बीमारियों के कारण होती हैं।

हम अपने इर्द-गिर्द गन्दगी रखकर एक विशेष प्रकार का मच्छर पैदा कर लेते हैं, जो हमें काटता है। उससे मलेरिया बुख़ार शुरू हो जाता है। इस प्रकार अपनी बीमारी का कारण हम .ख़ुद पैदा करते हैं, परन्तु उससे अपनी रक्षा नहीं करते।

छूत की बीमारियाँ प्रायः हमारी शारीरिक और नैतिक गन्दगी से पैदा होती हैं। जब कोई मनुष्य इस प्रकार के रोग में फँस जाय तब यह उसके लिए चेतावनी होती है कि अपनी गन्दगी से समाज के अन्य लोगों को दुःख में न फँसाये और न सन्तान उत्पन्न करके उनके लिए दुःख का कारण बने।

बलाई बीमारियाँ भी इसी प्रकार समाज की सामूहिक गन्दगी और गिरावट का परिणाम होती हैं। जिन देशों में लोग अपने मकान साफ़ और हवादार रखते हैं और अपना भोजन स्वच्छ रखते हैं उनमें इन बीमारियों का कहीं नाम नहीं मिलता। यद्यपि संक्रामक रोगों का आरम्भ किसी विशेष मनुष्य या स्थान में गन्दगी या ज़हरीले माद्दे के जमा हो जाने से होता है तथापि वह समाज पहले से ही इस ज़हर से प्रभावित होने के योग्य बना हुआ होता है।

सामाजिक पापों के विषय में एक विचित्र क़ानून काम करता है। यदि समाज का एक सदस्य कोई सामाजिक पाप करे तो उसकी सज़ा उस व्यक्ति तक ही सीमित नहीं रहती बल्कि उसका असर समस्त समाज के लिए घातक सिद्ध होता है; क्योंकि प्रकृति समस्त समाज को भी एक ही शरीरी* या सामूहिक अवस्था में एक ही शरीर समझती है। समाज के सिर पर यह बड़ा भारी पाप होता है कि उसने अपने एक अंग या अवयव को इतना गन्दा और गुमराह रहने दिया।

सामाजिक नियम यह है कि कोई मनुष्य अकेला या कुछ मनुष्य मिलकर शेष सारे समाज को पीछे छोड़ स्वयं उन्नति नहीं कर सकते। जहाँ पर जिस मनुष्य में आगे बढ़ने की इच्छा हो वहाँ पर उसके लिए आवश्यक है कि समाज के बाक़ी हिस्सों को भी वह अपने साथ ले। इस प्रकार समाज की भलाई में व्यक्तियों की अपनी-अपनी भलाई पाई जाती है। यह कैसी फ़िज़ूल बात है कि हम ख़ुद ही भूलें करके अपने अन्दर बीमारियाँ पैदा करें, फिर उन्हें दूर करने के लिए हर मौक़े पर ईश्वर को बुलाते फिरें।

जहाँ जीवन होगा वहाँ मृत्यु होगी

एक अन्य दृष्टि से देखने पर मालूम होता है कि जीवन और मृत्यु की एक दूसरे से अलग पहचान नहीं की जा सकती। यदि संसार में मृत्यु का अस्तित्व न होता तो नया जीवन कहाँ से पैदा हो सकता? प्रकृति के अन्दर केवल परिवर्तन का एक नियम काम करता है जिससे एक जगह मृत्यु और दूसरी जगह जीवन उत्पन्न होता हुआ नज़र आता है। बत्ती

* शरीरी = Organism (आर्गेनिज़्म)।

का जलना उसका जीवन है। बत्ती का जल चुकना ही उसकी मृत्यु है। इसी प्रकार हम भी ज्यों-ज्यों जीवन में बढ़ते हैं त्यों-त्यों मृत्यु के निकट चले जाते हैं।

इसको एक और दृष्टि से देखिए। यदि साधारण जानदारों के अन्दर मौत न हो तो थोड़े काल में ही यह पृथ्वी किसी एक प्रकार के जानदारों से इतनी भर जाय कि अन्य असंख्य प्रकार के जानदारों के लिए इस पर कोई स्थान ही न रहे। हाथी संसार में संख्या में सबसे कम फैलनेवाला जानवर समझा जाता है। कहते हैं, यह सौ वर्ष से अधिक जीता है और हथनी छः बरस के बाद केवल एक बच्चा देती है। उम्र भर में एक जोड़े से लगभग दस बच्चे पैदा होते हैं। परन्तु डारविन ने हिसाब लगाकर देखा है कि अगर हाथी की मृत्यु न होती तो सात सौ चालीस वर्ष के अन्दर हाथी के केवल एक जोड़े से एक करोड़ पचास लाख हाथी पैदा हो जाते। इसी एक उदाहरण से अनुमान लगाया जा सकता है कि मृत्यु न होने पर यह पृथ्वी थोड़े समय के लिए भी जीवन को सँभाल न सकती।

जीवन का मूल्य सिर्फ़ मृत्यु से ही होता है। यदि सृष्टि के आरम्भ से आज तक किसी मनुष्य और किसी पशु की (क्योंकि यह तो असम्भव है कि मनुष्य न मरें और पशु मरते चले जायँ) कोई मृत्यु न होती तो आज ज़मीन का क्या हाल होता? बुढ़ापे का जीवन कोई पसन्द नहीं करता। बचपन में वह रह नहीं सकता; क्योंकि हर एक के लिए सन्तान उत्पन्न करना भी आवश्यक होता है। फिर सबके लिए यौवन कैसे होता? बाप, दादा, परदादा आदि अनेक पीढ़ियों तक सब लोग जवान ही कैसे होते?—यह एक और समस्या है।

कुछ लोगों को भूचाल बहुत ही भयानक मालूम होते हैं। परन्तु वे यह भी भूल जाते हैं कि वही कारण, जो इस पृथ्वी को विभिन्न वस्तुएँ उत्पन्न करने के योग्य बनाता है, भूचाल भी पैदा करता है। आरम्भ में पृथ्वी आग के गोले के समान थी। समय गुज़रने पर ज्यों-ज्यों उसमें गरमी कम होती गई त्यों-त्यों उसके ऊपर जीवन उत्पन्न होता गया। अब भी पृथ्वी की आन्तरिक आग के गोले की गरमी दिन प्रति दिन कम हो रही है। इससे पृथ्वी कहीं न कहीं सिकुड़ती है जिससे कभी-कभी भूचाल आता है। भूचाल अधिकतर ज्वालामुखी पहाड़ों के निकट आते हैं। जब ज्वालामुखी का अस्तित्व मनुष्यों के लिए पर्याप्त चेतावनी है कि वे इनसे बचकर रहें, यदि कोई मनुष्य जान-बूझकर आग में पड़ना चाहे तो ईश्वर उसको बचा नहीं सकता।

राग-द्वेष एक ही भाव के दर्जे हैं

नैतिक संसार की भी यही हालत है। फलतः राग-द्वेष साथ-साथ चलते हैं। किसी एक से प्रेम करना दूसरों से द्वेष रखना है। जो मनुष्य अपने बच्चों को ही प्यार करता है, वह दूसरों के बच्चों को उनके बराबर कभी नहीं समझ सकता। जिन जातियों में देश-भक्ति का भाव बहुत ज़्यादा होता है उनके लिए दूसरी जातियों से घृणा रखना आवश्यक होता है। उनके अन्दर मानव-प्रेम का भाव नहीं उत्पन्न हो सकता।

यही हाल सत्य और असत्य का है। कहा जा सकता है कि जो कुछ दिल में हो उसे प्रकट करना सत्य है और उसके विरुद्ध असत्य। निस्सन्देह यह बात ठीक है। परन्तु दिमाग़ की बनावट कुछ ऐसी बनी है कि विभिन्न मनुष्यों के अन्दर एक ही बात विभिन्न तरीक़ों पर प्रकट होती है।

ब्रह्म है। फिर कुछ देर के लिए भूखा रखकर बताया--यह अन्न ही जीवन का सहारा है और इसलिए यही ब्रह्म है। जब इससे भी ठीक-ठीक समझ में न आया, तब नमक और पानी के दृष्टान्त से समझाया— जैसे यह नमक पानी के अन्दर घुला हुआ है परन्तु दिखलाई नहीं देता वैसे ही वह तत्त्व सबके अन्दर है परन्तु दिखलाई नहीं देता।

आगे चलकर सनत्कुमार से नारद मुनि ने ब्रह्म जानने की इच्छा प्रकट की। उसने बताया--वेद, अग्नि, सूर्य आदि सब उस एक ब्रह्म ही के चिह्न हैं। इन सबके द्वारा उसका ध्यान करो।

अन्त में प्रजापति ने इन्द्र को बतलाया--मन, प्राण, वाणी--सबसे परे वह ब्रह्म है। उस ब्रह्म को भूमा कहते हैं; क्योंकि सब कुछ उसके सहारे पर है, वह किसी के सहारे नहीं है।

दर्शन क्या कहते हैं?

न्याय और योग दर्शन तीन अन्तिम तत्त्वों को स्वीकार करते हैं— प्रकृति, आत्मा और ब्रह्म। प्रकृति जड़-रूप है। जीवात्मा अल्पज्ञ है, पुण्य-पाप करनेवाला और फल भोगनेवाला है। ब्रह्म सर्वज्ञ है, इन सबको रचनेवाला और चलानेवाला है।

सांख्य दर्शन प्रकृति और पुरुष, दो अन्तिम तत्त्वों को ही पर्याप्त समझता है जिनके पारस्परिक मेल से यह सारा संसार चल रहा है। सांख्य को ब्रह्म पर बड़ी आपत्ति यह है--वह इस संसार को क्यों बनाता है? अपनी इच्छा से या मजबूर होकर? यदि अपनी इच्छा से ऐसा करता है तो उसे क्या आवश्यकता थी? और यदि विवश होकर ऐसा करता है तो वह परमात्मा ही नहीं रहता, क्योंकि तब उसे विवश करनेवाली कोई और शक्ति है।

वेदान्त दर्शन प्रकृति और पुरुष की जगह केवल एक ही तत्त्व बतलाता है। वह है ब्रह्म। प्रकृति ब्रह्म की शक्ति के प्रदर्शन का नाम है।

बौद्ध दार्शनिक क्या मानते हैं ?

बौद्ध दर्शन के अन्दर इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में तीन मत पाये जाते हैं—क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद। क्षणिकवाद के अनुसार यह संसार केवल परिवर्तन का नाम है। हर एक चीज़ प्रतिक्षण बदलती रहती है; कोई भी वस्तु स्थिर नहीं। इसका एक दृष्टान्त नदी है। पानी की लहर और मिट्टी के किनारे को नदी कहते हैं। ये लहर और किनारा क्षण क्षण में बदलते रहते हैं। इसलिए परिवर्तन के प्रदर्शन को ही नदी का नाम दिया जाता है। इसी प्रकार दिये की लौ है जिसमें प्रतिक्षण बत्ती और तेल बदलते रहते हैं। संसार का एक और उदाहरण अग्नि-चक्र है जिसमें लकड़ी के दोनों सिरों में आग लगाकर उसको ज़ोर से घुमाने पर अग्नि का एक चक्कर सा बन जाता है।

विज्ञानवाद सारे बाह्य संसार को मन या कल्पना की उपज मानता है। (स्काटलैंड के बर्क्ले और ह्यूम का मत विज्ञानवाद से मिलता है।) इसके अनुसार जो कुछ हम जानते हैं वे इन्द्रियों के द्वारा मन पर पड़े हुए संस्कार हैं। उदाहरणार्थ एक मेज़ का ज्ञान हमारे लिए उसके रंग, ऊँचाई, सख़्ती, नरमी आदि से सीमित है। यह हमें छूने और देखने से प्राप्त होता है। वास्तव में मेज़ क्या है?—यह हम नहीं जानते। इसी प्रकार सारा संसार उन संस्कारों का संग्रह कहा जा सकता है। संस्कार मन के द्वारा होते हैं इसलिए यह संसार मन की शक्ति से बना हुआ है।

शून्यवाद का अभिप्राय यह है कि वास्तव में इस संसार का कोई अस्तित्व नहीं है। मन से इसकी कल्पना होती है। मन के न रहने पर कल्पना उड़ जाती है। बस, इससे भिन्न संसार कुछ नहीं है।

पश्चिमी दार्शनिकों के मत

जर्मन दार्शनिकों में सबसे बड़ा कांट है जो दर्शन में अपना क़दम आगे बढ़ाता है। इसका मत है कि यद्यपि यह संसार केवल संस्कारों का ही संग्रह है परन्तु मन के अन्दर स्वयमेव कुछ संस्कार पैदा करने की शक्ति है। उन पर बाहर से कोई भी असर नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ देश और काल का संस्कार हमारे मन में पाया जाता है। परन्तु देश और काल का अस्तित्व मन से बाहर कुछ नहीं है। कांट सभी संस्कारों को मन के विभिन्न प्रकारों में बाँटता है। इसके अतिरिक्त न हम संसार को जान सकते हैं और न सांसारिक मन* को जो ब्रह्माण्ड के अन्दर काम करता है।

हैगल और तरीक़े पर चलता है। वह कहता है कि एक ग़ैर-हस्ती, अर्थात् असत्य, है। दूसरा उसके मुक़ाबले पर सत्य है। दोनों के मेल से संसार बनता है। हैगल सत्य को एक प्रकार की निरुपाधि बुद्धि समझता है जिसका फैलाव यह समस्त संसार है।

फ़िश्टे† का मत है कि यह संसार अहंकार‡ से ही बनता है।

शापनहावर, जो सांख्य और उपनिषदों के दर्शन को पर्याप्त समझता है और अपनी पुस्तकों में बार-बार उनके उद्धरण देता है, सांसारिक वासना§

---

* सांसारिक मन = Cosmic mind (कास्मिक माइंड)।

† फ़िश्टे = Fichte.　‡ अहंकार = Ego (ईगो)।

§ सांसारिक वासना = Cosmic Will (कास्मिक विल)।

को संसार का कारण समझता है। वह पौधों और जानवरों के उदाहरणों से सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि उन सबके अन्दर वासना विद्यमान है जो संसार को उत्पन्न करती है। इस वासना को नष्ट करने पर ही संसार का अन्त हो जाता है।

इस बारे में भगवद्गीता क्या कहती है?

भगवद्गीता के अध्याय १५ के श्लोक १६, १७ और १८ में कहा गया है कि "पुरुष दो हैं, एक नाशवान्, दूसरा नाश-रहित। पुरुषोत्तम और है। वह इस संसार को थामे हुए है। वह मैं हूँ। इसलिए वेदों में मुझे पुरुषोत्तम कहा गया है।" अध्याय ७ के श्लोक ५, ६ और ७ में यह बताया गया है—"अपरा और परा प्रकृतियाँ, दोनों, मेरी हैं। इन दोनों से समस्त संसार उत्पन्न होता है। इसलिए वास्तव में उसकी उत्पत्ति और विनाश मुझसे ही है। ये सब पदार्थ मेरे गिर्द ऐसे पिरोये हुए हैं जैसे माला के धागे में मनके। मुझसे अलग ये कुछ नहीं हैं।" अध्याय ६ के श्लोक ४ में कहा गया है—"मैं अव्यक्त हूँ। मुझसे ही यह सारा संसार फैला हुआ है।" श्लोक ६ में बतलाया गया है—"जैसे आकाश में हवा चलती है वैसे ही मुझमें सारा संसार चलता है।" सांख्य की आपत्ति का उत्तर भगवद्गीता के अध्याय ५, श्लोक १४-१५ में आता है—"ब्रह्म इस संसार को उत्पन्न नहीं करता। यह केवल स्वभाव है जो स्वयमेव काम करना चाहता है।"

बौद्ध मतवाले आपत्ति करते हैं: क्योंकि इस संसार में केवल गुण ही गुण दिखाई देते हैं इसलिए यह संसार गुणों से मिलकर बना हुआ है। गुणी को ढूँढ़ने की ज़रूरत ही क्या है? श्री शंकराचार्य ने इसका

उत्तर दिया है—यदि ये सब गुण ही हैं तो एक स्थान में दो परस्पर-विरोधी गुण, उत्पत्ति और विनाश, कैसे पाये जा सकते हैं? एक ही जगह बनने और नष्ट होने से प्रकट होता है कि गुणों के पीछे गुणों को धारण करनेवाली कोई और शक्ति है।

भगवद्गीता के अध्याय ६ के श्लोक १६-१७ में भी बौद्धों की आपत्ति का उत्तर दिया गया है—"वे गुण और गुणी एक ही हैं, जुदा नहीं किये जा सकते।" इसी प्रकार अध्याय ७ के श्लोक १९ में कहा गया है—"यह सब वासुदेव ही है, गुण केवल उसे प्रकट करते हैं।"

वेद, उपनिषद् तथा भगवद्गीता और अन्तिम तत्त्व

एक वेदमन्त्र में कहा गया है कि "अग्नि, वायु, आदित्य आदि सब उसी को प्रकट करते हैं। वह एक सत्य है। बुद्धिमान् लोग उसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं।" कई अन्य वेदमन्त्र हैं जिनमें बताया गया है कि शुद्ध ब्रह्म हमारी समझ और विचार की शक्ति से बाहर है। ब्रह्म को हम उसकी रचना के द्वारा ही जान सकते हैं जैसा कि मनुष्य को हम उसके शरीर से जानते हैं। विराट् रूप में प्रकट हुआ ब्रह्म शबल, चितकबरा रूप, कहलाता है।

एक उपनिषद् में कहा गया है—"ब्रह्म में इच्छा या स्फुरण हुआ कि इन जीवों में प्रवेश करके शब्द और रूप की व्याख्या करूँ।" ब्रह्माण्ड को मनुष्य केवल नाम और रूप से जान सकता है।

भगवद्गीता के अध्याय १३ के श्लोक १२ में कहा गया है—"उस ब्रह्म का आदि-अन्त नहीं है। उसे हम न सत् कह सकते हैं, न असत्।" अध्याय १५ के श्लोक १२ और १३ में बताया गया है—"सूर्य, अग्नि

और चाँद की ज्योति मैं ही हूँ। पृथ्वी पर मेरी ही शक्ति सबको सहारा देती है। चाँद के अन्दर मैं ही सोम बनकर वनस्पतियों को बढ़ाता हूँ। सभी प्राणियों के अन्दर वैश्वानर, सञ्जीवनी शक्ति*, होकर जीवन क़ायम रखता हूँ।" अध्याय ६ के श्लोक १५ में वेद-मन्त्र का विचार पाया जाता है—"ज्ञानी लोग मुझ एक को विश्व की समस्त अभिव्यक्तियों में प्रकट हुआ जानकर पूजते हैं।" इसी आशय को सामने रखकर अध्याय १३ के श्लोक १४ में कहा गया है—"वह हर प्रकार से निर्गुण है, परन्तु सभी गुणों का धारण करनेवाला भी वही है।" इसका तात्पर्य यह है कि निरपेक्ष रूप से देखने पर वह निर्गुण और सापेक्ष रूप से देखने पर सर्वगुण प्रतीत होता है।

यह ब्रह्माण्ड ब्रह्म के अन्दर एक विचार† है

भगवद्गीता के अध्याय ६ के श्लोक ४-५ में कहा गया है—"हे अर्जुन, मैं तुमको सबसे बड़ा और गुप्त भेद बताता हूँ : यह संसार मुझ अव्यक्त से फैला हुआ है। उत्पन्न हुई सभी चीज़ें मेरे अन्दर हैं, परन्तु मैं उनमें नहीं हूँ। उत्पन्न हुई ये सब चीज़ें मेरे अन्दर नहीं भी हैं। मेरी अद्भुत शक्ति को देखो। मेरी आत्मा समस्त संसार को पैदा करती है, यद्यपि यह सब कुछ वह आत्मा है परन्तु वह इनमें नहीं है।" एक उदाहरण इस समस्या को हल कर देता है। लेखक के दिल में अपनी पुस्तक का और चित्रकार के दिल में अपने चित्र का नक़्श मौजूद होता है। वह नक़्श चित्रकार का है और चित्रकार की कला

* संजीवनी शक्ति = Vitality (वाइटैलिटी)।
† विचार = Conception (कानसेप्शन)।

तथा योग्यता नक़्शे से प्रकट होती हैं, इस दृष्टि से चित्रकार उसके अन्दर है। परन्तु पुस्तक या चित्र से लेखक या चित्रकार को पूर्णतया नहीं जाना जा सकता। इस प्रकार वह उससे पृथक् होता है। समस्त सृष्टि ब्रह्म के अन्दर एक नक़्शा* के समान है। हम सब उस नक़्शे का एक अंश हैं। यदि उस नक़्शे को उपाधि कहा जाय तो हम भी उपाधि के एक भाग हैं। हमारा समस्त ज्ञान सोपाधि हो सकता है। हमारे दृष्टिकोण से यह सारा विचार या नक़्शा सर्वथा सत्य और वैसी वास्तविकता रखनेवाला है जैसा कि हम अपने अस्तित्व के विषय में अनुभव करते हैं। परन्तु ब्रह्म-ज्ञान उपाधि से रहित निर्विकल्प है। इस दृष्टि से इस नक़्शे की वास्तविकता कुछ वैसी ही कही जा सकती है जैसी हमारे मन के उन ख़याली क़िलों की होती है जो हम शेख़चिल्ली की तरह बनाते हैं।

दोनों दृष्टियों से विचार करने का फल यह निकलता है कि जिस सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हम ब्रह्म के उद्देश की खोज करते हुए 'क्यों?' आदि प्रश्न करते हैं वह हमारे लिए वास्तविक होने पर भी ब्रह्म के लिए कोई विशेष अस्तित्व नहीं रखती। श्री शङ्कराचार्य इस बात को दूसरे शब्दों में प्रकट करते हैं—"जिस प्रकार स्वप्न के समय यह सवाल नहीं पैदा होता कि यह स्वप्न क्यों आ रहा है, उसी प्रकार जब तक माया का प्रभाव प्रभुत्व जमाये रखता है तब तक यह सवाल भी ग़लत होता है कि यह संसार क्यों बनाया गया। माया का प्रभाव दूर हो जाने पर ज्ञान-चक्षु खुल जाते हैं और यह प्रश्न उठता ही नहीं।"

---

* नक़्शा = Conception (कानसेप्शन)।

वर्त्तमान दार्शनिक किस परिणाम पर पहुँचे हैं ?

वर्तमान काल के दार्शनिक भी अंतिम तत्त्व के सम्बन्ध में ऐसे ही परिणामों पर पहुँचते हैं। हरबर्ट स्पेंसर अन्त के दो तत्त्वों को मानता है। इन्हें वह मैटर और फ़ोर्स, माद्दा और ताक़त कहता है। इनकी वास्तविकता जानने में असमर्थ होने से वह इनको अज्ञेय* नाम देता है।

हैकल एक क़दम आगे बढ़कर यह कहता है कि माद्दा और ताक़त दोनों एक ही वस्तु हैं। वह इसे वस्तु† नाम देता है। इसके साथ ही वह शापनहावर की तरह अद्वैत को ठीक मानता है।

शापनहावर ने तो कहा है कि अद्वैत एक प्रकार की नास्तिकता है। यदि ब्रह्मांड अपनी आन्तरिक शक्ति से चल रहा है और इससे अलग और कोई हस्ती नहीं है तो अल्लामियाँ को साफ़ जवाब मिल जाता है।

हैकल का मत है कि अद्वैत में ईश्वर प्रकृति से अलग काम करनेवाला नहीं है। ये दोनों एक ही हैं। इसका स्वाभाविक निष्कर्ष यह है कि केवल वेदान्त ही वर्तमान विज्ञान‡ का मज़हब हो सकता है।

मत्सीनी या मेज़िनी भी इसी बात का अनुमोदन करता है। वह कहता है कि मैं आत्मा के असंख्य प्रदर्शनों को मानता हूँ। आत्मा एक मंज़िल से उन्नति करती हुई दूसरी में पहुँचती है। इसे सदा के लिए दोज़ख़ या नरक की आग में रखना न केवल ख़ुदा के न्याय एवं दया से परे है बल्कि उसके ख़िलाफ़ एक इल्ज़ाम है। तुम्हारा मज़हब

---

* अज्ञेय = Unknowable (अननोयबल)।

† वस्तु = Substance (सब्स्टेंस)।

‡ विज्ञान = Science (साइंस)।

ख़ुदा को मनुष्य की श्रेणी में ले आता है; मेरा मज़हब मनुष्य को उन्नति करते-करते ख़ुदा बनाता है। ख़ुदा की मिहरबानी* पर भरोसा रखना फ़ज़ूल है। केवल पुरुषार्थ ही हमें ध्येय तक ले जाता है। इस प्रकार मेरा मज़हब जीवन के क्रमिक उत्कर्ष का सिलसिला है।

अन्तिम तत्त्व और प्राचीन दार्शनिक

प्राचीन काल के दर्शनवेत्ता भी इसी विचार पर आ ठहरे। मिस्र में प्राचीन समय से वेदान्त का बीज विद्यमान रहा है। फ़ैसागोरस† ने आर्य दर्शन की लहर को यूनान या ग्रीस में चलाया। आइयानिक मत‡ के दार्शनिक एनेक्सामेंडर ने यह शिक्षा फैलाई कि यह संसार ही ब्रह्म है। इसी में बार-बार प्रलय और उत्पत्ति होती रहती है। एम्पोडाक्लीज़ भी प्रकृति और पुरुष को एक मानता था।

मध्य-युग में रोमन कैथोलिक चर्च और इस्लाम दोनों सेमेटिक या पैग़म्बरी मज़हबों ने इस सिद्धान्त को दबाने में कोई कसर न छोड़ी। इन विचारों को रखने और इनका प्रचार करने के अपराध में गिआरदिनोब्रूनो रोम में ज़िन्दा जलाया गया। शम्स तबरेज़ और मन्सूर इस्लाम के जब्र और धर्मान्धता के शिकार हुए। इस पर भी ईरान में अलग़ाज़ाली तथा हाफ़िज़ और सीरिया में जलालुद्दीन रूमी इसी विचार के अन्दर मगन रहे और इसका प्रचार करते रहे। योरप के दर्शनवेत्ता स्पिनोज़ा और गैटे, इसी विचार के रंग में रँगे हुए थे।

---

* ख़ुदा की मिहरबानी = Grace (ग्रेस)।
† फ़ैसागोरस = Pythagoras (पाइथागोरस)।
‡ आइयानिक मत = Ionic School (आइयानिक स्कूल)।

पाँचवाँ परिच्छेद

सृष्टि-उत्पत्ति—दैवी-विकास

संसार में कार्य-कारण का सिलसिला

भगवद्गीता के अध्याय १० के श्लोक ८ में कहा गया है—"सृष्टि मुझसे उत्पन्न हुई है।" अध्याय ६ का श्लोक १० कहता है—"मेरी अध्यक्षता में चर और अचर सृष्टि पैदा होती है।" अध्याय १४ का श्लोक ३ बतलाता है—"मेरी योनि महत् ब्रह्म है। मैं उसमें बीज डालता हूँ और तब सब कुछ उत्पन्न होता है।"

हम कोई स्रष्टा मानें या न मानें, इस बात से तो किसी को इनकार नहीं हो सकता कि संसार में परिवर्त्तन का एक ही नियम काम करता है। बौद्ध लोग इसे कर्म का नियम कहते हैं। हम इसे कार्य-कारण-सम्बन्ध का नाम दे सकते हैं। संसार में कोई चीज़ अचानक या केवल संयोगवश नहीं होती। प्रत्युत हरएक चीज़ का पहले कोई कारण होता है, जिसका वह कार्य होती है। सूर्य का ताप कारण है। भाप की उत्पत्ति कार्य है। अब यह भाप उन बादलों का कारण है जो उसका कार्य हैं। फिर बादल कारण बन जाते हैं और बरसात कार्य होती है। वर्षा कारण हो जाती

---

* कर्म का नियम—Law of causation (ला आव् काज़ेशन)।

है और वह अन्न उसका कार्य होता है, जिससे प्रायः सभी प्राणी बढ़ते हैं। इस प्रकार यह सिलसिला चला जाता है।

एक प्रसिद्ध प्रश्न है—बीज पहले उत्पन्न हुआ या वृक्ष? यह इस प्रकार हल होता है—"बीज कारण है और कारण प्रकृति के साथ सदा विद्यमान रहता है।" एक बत्ती सैकड़ों विभिन्न कारणों के होने से बनती है और उसके जलने पर कितने ही भिन्न परिणाम उत्पन्न होते हैं। छोटी से छोटी गति बड़े से बड़ा नतीजा पैदा कर सकती है। कारलाइल ने एक जगह कहा है—जब हम एक पत्थर उठाकर दूसरी जगह फेंकते हैं तब इससे पृथ्वी का गुरुत्वकेन्द्र* बदल जाता है।

माद्दा और अन्तिम कारण—परमाणु

हिन्दू शास्त्रों में कारणों के तीन प्रकार बतलाये गये हैं—उपादान, निमित्त और साधारण। घड़े का उपादान कारण मिट्टी है, निमित्त कारण कुम्हार और साधारण औज़ार वग़ैरह। संसार में जो कुछ हमें इन्द्रियगोचर होता है उस सब का उपादान कारण माद्दा या प्रकृति है।

वैशेषिक दर्शन में प्रकृति के बाईस तत्त्व बतलाये गये हैं। आजकल के रसायनविद्† पहले ७२ तत्त्वों को मानते थे। परन्तु रेडियम के आविष्करण से रसायन-शास्त्र में क्रान्ति आ गई है। अब यह सिद्ध हुआ है कि ये ७२ तत्त्व भी आगे ऐसे ही और ज़्यादा बारीक ज़र्रों या कणों से बने हुए हैं जिससे एक तत्त्व के कण दूसरे तत्त्व के रूप में परिणत हो जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि वास्तव में माद्दा केवल

---

* गुरुत्वकेन्द्र = Centre of Gravity (सेंटर आव् ग्रेविटी)।

† रसायन = रसायन-शास्त्र = Chemistry (कैमिस्ट्री)।

एक ही प्रकार के कणों से बना हुआ है। इन कणों को अणु* और परमाणु† कहा गया है। एक अणु का व्यास $\frac{1}{50000}$ इञ्च और एक परमाणु का $\frac{1}{5000000}$ इञ्च माना गया है। यह भी हिसाब लगाया गया है कि एक घनमूलीय‡ इञ्च वस्तु में इक्कीस लाख पद्म (२१०००००००००००००००००००००) अणु पाये जाते हैं।

ताप, आवाज़ आदि शक्तियों का स्रोत एक है

भौतिक विज्ञान§ भी इसी परिणाम पर पहुँचता है कि बिजली, ताप, आवाज़, प्रकाश, चुम्बकत्व आदि सभी प्राकृतिक शक्तियाँ एक दूसरी में तबदील हो सकती हैं। ये सभी एक ही शक्ति से निकली हुई मानी जा सकती हैं जिसे 'फ़ोर्स' या 'एनर्जी' कहा जाता है। यह फ़ोर्स गति का नाम है जो माद्दा के अन्दर काम करती है। यह गति प्रायः कंपन|| के रूप में दिखाई देती है। हवा के अन्दर गति होने से आवाज़, ठोस चीज़ों के अन्दर गति होने से ताप और सूर्य की किरणों की गति से चीज़ों के रंग बनते हैं। जो वस्तु सूर्य की किरणों से उत्पन्न हुई लहरों को अपने अन्दर जज़्ब कर लेती है वह काले रंग की और जो सभी लहरों को वापस कर देती है वह सफ़ेद रंग की दिखलाई देती है।

---

* अणु = Molecules (मालीक्यूल्ज़)।

† परमाणु = Atom (ऐटम)।

‡ घनमूलीय = Cubic (क्यूबिक)।

§ भौतिक विज्ञान = Physics (फ़िज़िक्स)।

|| कंपन = Vibration (वाईब्रेशन)।

हरबर्ट स्पेंसर कहता है कि माद्दा और ताक़त कभी अलग-अलग नहीं रह सकते और यह समस्त ब्रह्मांड इन दोनों के गुणन और विभाजन का फल है। आजकल यह ख़याल ज़्यादा ज़ोर पकड़ता जाता है कि माद्दा और ताक़त, दोनों, वास्तव में एक ही हैं। अन्तर केवल इतना है कि कम्पन के बहुत ही तेज़ होने पर वह 'फ़ोर्स' के रूप में और बहुत ही मन्द होने पर वह माद्दा के रूप में प्रकट होती है।

भगवद्गीता और अव्यक्त ब्रह्म

विज्ञान वस्तुओं की बाह्य खोज में बाहर से चलकर अन्दर जाता है। दर्शन और मज़हब ब्रह्मांड की आन्तरिक खोज करते हुए अन्तिम तत्त्वों पर आकर मिल जाते हैं। भगवद्गीता के अध्याय २ का श्लोक २८ कहता है—"हम वस्तुओं के आरम्भ और अन्त को नहीं जान सकते, केवल उनकी बीच की अवस्था को समझ सकते हैं।" इतना तो हमें स्पष्ट नज़र आता है कि जड़ होने के कारण माद्दा अकेला कुछ नहीं कर सकता और 'फ़ोर्स' या ताक़त बिना ज्ञान के अन्धी है। इसलिए भगवद्गीता के अध्याय ७ के श्लोक ५ और ६ में कहा गया है—"परा प्रकृति और अपरा प्रकृति (अर्थात् माद्दा और ताक़त) मुझसे सहारा लेकर चलती हैं।" अध्याय ७ के श्लोक २०, २१ और २२ में भी साफ़ कहा गया है—"इन तत्त्वों से परे एक और बड़ा अव्यक्त है जो कभी प्रकट नहीं होता, परन्तु उससे सब कुछ प्रकट होता है।" अध्याय १५ के श्लोक १७ में उसे पुरुषोत्तम कहा गया है, जो दोनों पुरुषों, अर्थात् क्षर और अक्षर, से परे है और तीनों लोकों के अन्दर रहता हुआ उनको आश्रय देता है।

ऊपर कहा गया है कि पुरुषोत्तम को जानना तो एक ओर रहा, हम प्रकृति की दोनों अवस्थाओं, माद्दा और ताक़त, की वास्तविकता को भी नहीं जान सकते। हाँ, इनके द्वारा पड़े हुए संस्कारों का ज्ञान हमें ज़रूर होता है। इन संस्कारों से ही हम इतना समझ सकते हैं कि इन शक्तियों-वाला ब्रह्म है। आश्चर्य की बात है कि विभिन्न मज़हबों से सम्बन्ध रखनेवाले लोग माद्दा अर्थात् प्रकृति-सम्बन्धी ज्ञान से तो इतनी घृणा करते हैं और जिस ब्रह्म का कोई ज्ञान सम्भव नहीं उसे राजगीर सा ख़याल कर उसके ज्ञान के इतने लम्बे-चौड़े दावे करते हैं।

सृष्टि-उत्पत्ति में आदि-विकास

अध्याय १४ के श्लोक ४ और ५ में कहा गया है—"जो कोई पदार्थ किसी रूप में प्रकट होता है, उसकी योनि महत् ब्रह्म है और मैं उसमें बीज देनेवाला पिता हूँ।" प्रकृति के तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम। ये गुण जीव को शरीर से बाँधते हैं। अध्याय १३ के श्लोक ५ और ६ में कहा गया है—"मूल प्रकृति (अव्यक्त), बुद्धि (महत्तत्त्व), अहंकार, पाँच महत्तत्त्व, ग्यारह इन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना और साहस—ये सब प्रकृति के ही विकार हैं।"

संसार में सबसे पुराना दर्शन जिसमें सृष्टि की उत्पत्ति के लिए विकास* के सिद्धान्त की शिक्षा दी गई है, सांख्य है। उत्पत्ति-शब्द ही, जो सृष्टि की पैदाइश के लिए प्रयुक्त होता है, विकास के शाब्दिक अर्थ को प्रकट करता है। उत्पत्ति का जो क्रम भगवद्गीता में दिया गया है, उस जैसा

---

* विकास का सिद्धान्त—Theory of Evolution (थियरी आव् एवोल्यूशन)।

ही मनुस्मृति आदि तथा कई पुराणों में भी पाया जाता है। इसके अनुसार ब्रह्म दो शक्तियों में प्रकट होता है। मनु ने कहा है— "आधा ब्रह्म स्त्री बना।" सम्भव है, तौरेत में आदम की पसली से हवा का निकलना मनु से लिया गया हो। पुरुष और प्रकृति को कवित्वमय भाषा में बीज के रूप में नर और मादा कहा गया है। प्रकृति से महत्तत्त्व अर्थात् बुद्धि बनती है। इस बुद्धि को भगवद्गीता में योनि कहा गया है। मनुस्मृति में इसको हिरण्यगर्भ अंडा बताया गया है। इस महत्तत्त्व से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार से विभिन्न प्रकार के भेद शुरू होते हैं। अहंकार ही पृथक्त्व उत्पन्न करता है। किसी जीव, उदाहरणार्थ चिउँटी, से भी यदि प्रश्न किया जाय कि संसार के दो हिस्से कौन से हैं तो वह यही उत्तर देगी—एक मैं और दूसरा शेष सारी दुनिया। अहंकार से सृष्टि के दो भाग हो जाते हैं—सह-इंद्रिय और निरिंद्रिय। इनमें से पहले भाग से पाँच ज्ञान-इन्द्रियाँ तथा पाँच कर्म-इन्द्रियाँ और दूसरे भाग से पाँच तन्मात्राएँ—पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि और वायु—बनती हैं। आकाश का गुण शब्द है। आकाश बदलकर हवा बनती है जिसका गुण स्पर्श है। इससे तेज, जिसका गुण रूप है। तेज से पानी, जिसका गुण रस है। पानी से मिट्टी, जिसका गुण गन्ध है। इनमें से बाद में आनेवाले हर एक में एक-एक गुण अधिक होता जाता है। इन पाँच में मन और बुद्धि मिलने से ये सात हो जाते हैं। इन सात तत्त्वों के मिलने से समस्त सृष्टि बनती है।

भगवद्गीता के अध्याय १० के श्लोक १६ में सात ऋषियों, चार पूर्वजों और मनु की उत्पत्ति का उल्लेख है। यह किन्हीं विशेष व्यक्तियों

की तरफ़ इशारा नहीं मालूम होता। प्रत्युत, जैसा कि मांडूक्य उपनिषद् में लिखा है, सात ऋषियों का अर्थ सात इन्द्रियाँ, चार पूर्वजों का अर्थ मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार है और मनु का अर्थ है मनुष्य। इससे पहले और बाद के श्लोकों में भी केवल गुणों का उल्लेख है, व्यक्तियों का नहीं।

यह संक्षिप्त सा वृत्तान्त है जो हिन्दू शास्त्रों में प्रकृति के अन्दर आदि-विकास का मिलता है।

वाष्पारम्भवाद और आदि-विकास

वर्तमान विज्ञान की उन्नति हो जाने पर सृष्टि-उत्पत्ति का जो मत स्वीकार किया गया है, वह लैपलेस और कांट का वाष्पारम्भवाद* है। यह मत स्पष्ट शब्दों में आर्य-शास्त्रों के सिद्धान्त का ही वर्णन करता है। अन्तर इतना है कि इसमें ब्रह्म और पुरुष का कोई उल्लेख नहीं। यह केवल प्रकृति से इस प्रकार शुरू होता है—माद्दा पहले-पहल परमाणुओं की वाष्प के रूप में था। (इस वाष्प को नेबुली† कहा गया है।) इस भाप में गति की प्रक्रिया आरम्भ हुई जिससे यह ईथर‡ अर्थात् आकाश में परिणत हो गई। 'फ़ोर्स' या गति के रूप में प्रकट हो ईथर दो प्रकार का हो जाता है—एक केन्द्रिय, दूसरा महबरी। यह गति इतनी तेज़ होती है कि इसके कारण गैसवाली आग के कई टुकड़े हलक़ों या

---

* लैपलेस और कांट का वाष्पारम्भवाद—Nebular theory of Laplace and Kant (नेबुलर थियरी आव लैपलेस एंड कांट)।

† नेबुली—Nebulæ. ‡ ईथर—Ether.

मंडलों की शकल में बन जाते हैं। केन्द्र में सबसे बड़ा मंडल रहता है जिसकी स्थिति सूर्य की होती है। इसके इर्द-गिर्द सभी दिशाओं में आग के गोलों के रूप में नभमंडल उत्पन्न हो जाते हैं। इनमें से एक हमारी पृथ्वी है। धीरे धीरे ये मंडल अपना ताप बाहर निकालने पर ठंडे होने शुरू हो जाते हैं। पहले तो तरल, फिर अधिक ठंडे होने पर ऊपर से ठोस रूप ग्रहण करते हैं। ठोस होने के बाद ये इस योग्य होते हैं कि इन पर जीवन क़ायम रह सके। पृथ्वी के आन्तरिक भाग में अभी तक आग ही आग है। यदि पृथ्वी को एक हज़ार फ़ुट नीचे खोदा जाय तो इसमें पानी को उबालनेवाला ताप होता है। सूर्य, पृथ्वी आदि से यह ताप दिन प्रतिदिन निकल रहा है।

सूर्य की गरमी जब बहुत कम हो जायगी, तब पृथ्वी टुकड़े-टुकड़े होकर चकनाचूर हो जायगी। इसके बाद उसके अन्दर उत्पत्ति के उलटे वह प्रक्रिया शुरू होती है जिसे हिन्दू शास्त्रों में प्रलय कहा गया है। एक समय आता है जब समस्त ब्रह्माण्ड में ही यही प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। इसे महाप्रलय कहते हैं। इसका वर्णन यों किया गया है—चल और अचल सभी, नष्ट हो जाते हैं। गन्ध को जज़्ब करके सर्वत्र जल ही जल हो जाता है। तब सबको अग्नि जज़्ब कर लेती है। इसमें सूर्य भी छिप जाता है फिर हवा सबको जज़्ब करती है। तब रूप नहीं रहता। फिर स्पर्श आकाश में मिल जाता है। शेष शब्द ही रह जाता है। शब्द को मन जज़्ब कर लेता है। मन और बुद्धि को काल निगल जाता है और काल का लय ब्रह्म में हो जाता है।

ब्रह्माण्ड और विज्ञान

ब्रह्माण्ड के विषय में ज्यौतिष, भूगर्भ* आदि विद्याएँ कई बातें बतलाती हैं। यह सर्वमान्य बात है कि प्रकाश की रफ़्तार एक लाख छियासी हज़ार मील प्रति सेकंड है। सूर्य ज़मीन से इतना दूर है कि उसका प्रकाश पृथ्वी तक पहुँचने में आठ मिनट लगते हैं। बुध† आदि कई ऐसे सितारे हैं जिनका प्रकाश पृथ्वी तक आने में कई दिनों का समय लग जाता है। आल्फा सेंटार‡ वे सितारे हैं जिनका प्रकाश तीन वर्ष के बाद पृथ्वी पर पहुँचता है। साइरस§ का प्रकाश बीस वर्ष के बाद और आकाशगङ्गा॥ का प्रकाश दो हज़ार वर्ष के बाद पृथ्वी तक आता है। कुछ ऐसे नेबुली हैं जिनका प्रकाश उत्पत्ति-काल से चल रहा है परन्तु अभी तक पृथ्वी पर नहीं पहुँचा।

इसी प्रकार भूगर्भविद्या का विद्वान् हक्सले लिखता है कि पृथ्वी की बनावट के अन्दर विभिन्न प्रकार की तहें पाई जाती हैं और उनमें से हर एक तह के बनने में कई युग लगे हैं। पृथ्वी के अन्दर एक तह कोयले की है जिसके बनने में साठ लाख वर्ष का समय लगा है। चार्ल्स लायल ने चाक की तहों की बनावट से अनुमान लगाया है कि पृथ्वी को वर्तमान

---

* ज्यौतिष और भूगर्भ विद्या = Astronomy and geology (ऐस्ट्रानॅमी एंड जिआलॅजी)।

† बुध = Mercury (मर्करी)।

‡ आल्फा सेंटार = Alph Centaur.

§ साइरस = Cirrus.

॥ आकाशगङ्गा = Milky way (मिल्की वे)।

रूप में आने के लिए बीस करोड़ वर्ष लगे होंगे। इससे पूर्व का हिसाब लगाने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं। इसके मुक़ाबले पर हिन्दू ज्यौतिष-शास्त्र सृष्टि-उत्पत्ति और प्रलय के काल का कटा-छँटा एक हिसाब हमारे सामने रखता है।

ब्रह्माण्ड और भगवद्गीता

भगवद्गीता के अध्याय ८ के श्लोक १६, १७, १८ और १६ में ब्रह्मरात्रि और ब्रह्मदिन को एक हज़ार युगों का बताया गया है। ब्रह्म-लोक अव्यक्त रात से निकल एक हज़ार वर्ष तक दिन की हालत में रहकर प्रलय को प्राप्त हो जाता है। श्लोक २३ और २४ में दक्षिणायन और उत्तरायण में मरने का उल्लेख है। उपमा के तौर पर वे केवल ज्ञान और अज्ञान की अवस्थाओं की ओर संकेत करते हैं। दक्षिणायन और उत्तरायण से युगों की गिनती शुरू होती है।

ज्योतिष-शास्त्र में सृष्टि के दिनरात का हिसाब इस प्रकार लगाया गया है: छः मास का उत्तरायण अर्थात् देव का एक दिन और छः मास का दक्षिणायन अर्थात् देव की एक रात्रि कहलाते हैं। इस तरह के ३६० दिन और रात के मिलने से देव का एक वर्ष बनता है। ऐसे ४४०० देव-वर्षों का सत्ययुग, ३३०० देव-वर्षों का त्रेता, २२०० देव-वर्षों का द्वापर और ११०० देव-वर्षों का कलियुग होता है। १२००० देव-वर्षों का एक महायुग होता है, ७१ महायुगों का एक मन्वंतर और १४ मन्वंतरों का एक कल्प होता है जिसमें सृष्टि का आधा काल गुज़र जाता है।

जीवन के चिह्न और प्रकृति

रसायन-शास्त्र विभिन्न वस्तुओं को सजीव और निर्जीव* भागों में बाँटता है। सजीव माद्दा में विशेषतया कर्बन का अंश अधिक एवं पेचीदा मिश्रणों में पाया जाता है। योरप के विद्वानों को जीवन का बीज ढूँढ़ने के लिए बड़ा आश्चर्य हो रहा है। जहाँ तक सजीव माद्दा का सम्बन्ध है, उसकी उत्पत्ति एवं क्रमिक उन्नति की बात विकास के सिद्धान्त के अनुसार स्पष्टतया बताई जा चुकी है। अब यह मालूम करना बाक़ी है कि जीवन का आरम्भ क्योंकर और कहाँ से होता है। यह समस्या अभी तक हल करने योग्य समझी जाती है, यद्यपि सर जगदीशचन्द्र वसु के अन्वेषण ने इस प्रश्न पर बहुत प्रकाश डाला है। उन्होंने प्रयोगों के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि जीवन केवल सजीव माद्दा में ही विशेषतया प्रकट नहीं होता, बल्कि निर्जीव माद्दा अर्थात् खनिज पदार्थों के अन्दर भी वह वैसी ही अवस्था में पाया जाता है। जीवन के बड़े चिह्न 'बाह्य वस्तुओं से प्रभावित होना'† और आकर्षण‡ तथा द्वेष या निराकरण§ धातुओं के अन्दर भी वैसे ही पाये जाते हैं। कुछ विशेष धातुएँ सदा ख़ास शकल के स्फटिकों|| में ही पाई जाती हैं। इन स्फटिकों से उन धातुओं की पहचान की जाती है। जब उनको मार दिया जाय तब

---

* सजीव और निर्जीव = Organic and inorganic (आरगैनिक एंड इनआरगैनिक)।

† बाह्य वस्तुओं से प्रभावित होना = Response (रिस्पांस)।

‡ आकर्षण = Attraction (ऐट्रेक्शन)।

§ द्वेष या निराकरण = Repulsion (रिपल्शन)।

|| स्फटिक = Crystal (क्रिस्टल)।

वैसे स्फटिक नहीं बनते। अम्लजन और आर्द्रजन गैसों में, जिनके मेल से पानी बनता है, पारस्परिक आकर्षण उसी प्रकार है, जिस प्रकार नर के शुक्र* और मादा के रज† में होता है। कुछ निर्जीव मूलतत्त्व आपस में मेल करते हैं। परन्तु जब कहीं इनको अपना आकर्षण रखनेवाला मित्र मिल जाता है, तब ये अपने अस्थायी या तात्कालिक साथी को छोड़कर तुरन्त असली मित्र से जा मिलते हैं। आकर्षण और निराकरण के ये गुण आरम्भिक परमाणुओं में केन्द्रीय और महवरी गर्दिश के कारण एक तरफ़ खींचते और दूसरी तरफ़ हटाते हैं। पशुओं में आकर यही गुण राग-द्वेष के रूप में प्रकट होते हैं।

जीवन के लक्षण में उन्नति

हिन्दू शास्त्रों में जीव के लक्षण राग, द्वेष, सुख, दुःख, इच्छा और प्रयत्न बताये गये हैं। जीव जीवन या ज़िन्दगी के अर्थ में समझना चाहिए। जीव-विद्या‡ के जाननेवालों ने भी जीवन के लक्षण प्रायः ऐसे ही किये हैं। जीवन का बीज प्रकृति के अन्दर पुरुष बनकर आरम्भ से ही हर एक सजीव वस्तु में विद्यमान होता है और उसकी भावी उन्नति बाह्य और आन्तरिक परिस्थिति पर निर्भर होती है। बाह्य संस्कारों से प्रभावित होकर हर एक सजीव वस्तु को आन्तरिक रूप से अपने आपको उसके अनुकूल बनाना पड़ता है। विशेष संस्कारों द्वारा बार-बार प्रभावित होने से वे विशेष शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनको इन्द्रियाँ कहा जाता

* शुक्र = Sperm (स्पर्म)।
† रज = Ovum (ओवम)
‡ जीव-विद्या = Biology (बाइआलोजी)।

है। इन्हीं बाह्य संस्कारों के अधीन हर एक जानदार के ऐसे बाह्य भाग—खाल और नसें*—पैदा हो जाते हैं जिनके द्वारा संस्कार शरीर के अन्दर प्रवेश करते हैं।

प्राणि-विद्या† का अध्ययन इस बात को स्पष्ट करता है कि किस प्रकार बहुत छोटे दर्जे के प्राणियों में केवल एक ही इन्द्रिय होती है। इसी से वे अपना सारा काम करते हैं। इर्द-गिर्द की परिवर्तनशील परिस्थिति ज्यों-ज्यों उन पर अपना प्रभाव डालती है त्यों-त्यों उनमें विभिन्न हवास‡ और इन्द्रियों की विधिपूर्वक उन्नति होती जाती है। पहले-पहल सभी प्रभाव केवल चमड़ी या बाह्य खाल पर होते हैं। धीरे-धीरे रीढ़ उत्पन्न होती है। इसके साथ मस्तिष्क बनता है। यह मस्तिष्क या दिमाग़ समझदार पशुओं के अन्दर अधिक उन्नत अवस्था में होता है। वहशी या असभ्य मनुष्य का दिमाग़ पशुओं के दिमाग़ के समान होता है। सभ्य मनुष्य के अन्दर मस्तिष्क बहुत उन्नत अवस्था में पाया जाता है। दिमाग़ी उन्नति के साथ-साथ इन्द्रियों की उन्नति होती है। इस प्रकार निरिन्द्रिय अहंकार से उत्पन्न हुए पाँच भूत सहेन्द्रिय प्रकृति पर प्रभाव डालकर इन्द्रियों का अस्तित्व स्थूल अवस्था में ले आते हैं। सांख्य-शास्त्र इसके साथ एक अन्य बात जोड़ देता है। वह यह कि यद्यपि सहेन्द्रिय प्रकृति पर प्रकाश का प्रभाव पड़ने से आँख उत्पन्न होती है, परन्तु देखने की इच्छा पहले से ही विद्यमान रहती है।

---

* खाल और नसें = Skin and nerves (स्किन एंड नर्व्ज़)।
† प्राणि-विद्या = Zoology (ज़ूआलोजी)।
‡ हवास = Senses (सेंसेज़)।

गति और उत्पत्ति की सापेक्षता

भगवद्गीता के अध्याय १३ के श्लोक १६ और २० में कहा गया है—"पुरुष और प्रकृति अनादि हैं। सभी गुण और विकार प्रकृति में उत्पन्न होते हैं। कार्य-कारण के क्रम का स्रोत भी यही है।" श्लोक २० में बताया गया है—"जो मनुष्य अनेक को एक से निकले हुए जानता है, वही ज्ञान प्राप्त करता है। जिस प्रकार सूत एक ही होता है परन्तु कपड़े विभिन्न बनते हैं; लोहा एक ही होता है, परन्तु औज़ार विभिन्न बनते हैं।" अध्याय १४ का श्लोक १६ कहता है—"प्रकृति पुरुष का स्वभाव है, पुरुष प्रकृति से परे है। जैसे मकड़ी अपने गिर्द जाला बुनती है और रेशम का कीड़ा अपने गिर्द कोश या कोकून बनाता है ऐसे ही यह सारा संसार प्रकृति से बना है।"

यह सृष्टि प्रकृति के अन्दर गति का परिणाम है। इसमें जन्म-मरण केवल रूप-परिवर्तन और गति-भेद के तौर पर हैं। गति सापेक्ष* है। चलती गाड़ी में बैठे हुए मनुष्य को बाहर की स्थिर वस्तुएँ गतिवान् नज़र आती है। सांख्य का मत है कि प्रकृति अपने आपको पुरुष के सामने पुस्तक के पन्नों की तरह रखती जा रही है। जिस प्रकार किश्ती में बैठे हुए मनुष्य को नदी का किनारा चलता दिखलाई देता है, उसी प्रकार पुरुष घूमती हुई प्रकृति को न जानकर अपने आपको गतिमान् ख़याल करता है।

यदि संसार को समष्टिगत रूप से देखा जाय तो उसमें गति का होना सम्भव नहीं। इसलिए जब प्रकृति स्थिर हुई तो उसमें न गति

* सापेक्ष = Relative (रेलेटिव)।

हुई, न कुछ उत्पन्न हुआ और न कुछ नष्ट हुआ। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि ब्रह्म के दृष्टिकोण से न कभी कोई परिवर्तन होता है, न हुआ है। परन्तु मनुष्य के दृष्टिकोण से उत्पत्ति और प्रलय वास्तविक घटनाएँ हैं और ये वैसी ही वास्तविकता रखती हैं जैसे आप और हम। इन दोनों दृष्टिकोणों को सदा सामने रखने से भगवद्गीता की वे समस्याएँ हल हो जाती हैं जिनको कुछ लोग परस्पर-विरोधी बातें समझते हैं। उदाहरणार्थ भगवद्गीता के अध्याय १३ के श्लोक १४, १५ और १६ में कहा गया है—"ब्रह्म की इंद्रियाँ नहीं हैं, परन्तु वह सब कुछ करता है। वह निर्गुण है, परन्तु उसमें सभी गुण हैं। वह भीतर बाहर से अचल है, परन्तु गति करता है। वह दूर से दूर और निकट से निकट है। अभाज्य होकर भी वह विभक्त है। वह सृष्टि को उत्पन्न करता, चलाता और जज़्ब करता है।"

———

छठा परिच्छेद

भौतिक सृष्टि

वृत्त और बीज

ऋषि उद्दालक ने अपने बेटे श्वेतकेतु से कहा—"बड़ का एक बीज ले आ।" वह ले आया। फिर कहा—"इसको तोड़ो और देखो, इसमें क्या है।" उसने तोड़कर देखने के बाद जवाब दिया—"इसमें असंख्य नन्हे-नन्हे बीज हैं।" उसके अन्दर से एक नन्हा सा बीज उठाकर उद्दालक ने कहा—"देखो, इसमें क्या नज़र आता है।" श्वेतकेतु बोला—"बस, इस बीज के अतिरिक्त और कुछ नज़र नहीं आता।" इस पर ऋषि उद्दालक ने कहा – "जिसके अन्दर तुमको कुछ दिखाई नहीं देता वहाँ पर बड़ का एक बड़ा वृत्त है। इसी नन्हे बीज के अन्दर वृत्त का तना, शाखाएँ, पत्ते और फल पैदा करने का सामान विद्यमान है।"

एक और उदाहरण लेकर देखिए। एक बड़ा सुन्दर नगर है। उसके अन्दर बड़े शानदार महल, मकान और हवेलियाँ हैं। ये सब किससे बने हैं? ईंट, चूने और पत्थर से। ईंट, चूना और पत्थर क्या हैं? ये सब प्रायः रेत के कणों से मिलकर बनते हैं। अन्त में ये कण या ज़र्रे हैं जिनके मेल से इतनी बड़ी विभिन्नताओं का प्रदर्शन इस नगर के रूप में होता है।

जीवन-कोश

हमने देखा है कि अणुओं (मालीक्यूल्ज़) से समस्त सृष्टि बनी है। जीव-विद्या (बाइआलोजी) हमें बतलाती है कि सभी प्रकार के प्राणी, जिनमें वनस्पतियाँ भी सम्मिलित हैं, बहुत ही बारीक बीजों से बनते हैं। इस बीज को कोश* कहा जाता है। यह इतना छोटा होता है कि इसे ख़ाली आँख देख नहीं सकती। यह अणुवीक्षण-यन्त्र† के द्वारा देखा जाता है। यह कोश जीवन का केन्द्र है। इसे हम जीवन-कोश कह सकते हैं।

इस जीवन-कोश का आरम्भ अभी तक मालूम नहीं हो सका। इसके विषय में कई ख़याल दौड़ाये गये हैं। एक विद्वान् का विचार है कि जब पृथ्वी जीवन उत्पन्न करने के योग्य हो गई, तब यह कोश शायद किसी दूसरे आबादशुदा सितारे से गिरकर पृथ्वी पर पहुँचा। ध्यान देने से मालूम होगा कि इस जीवन-कोश की बनावट और उत्पत्ति का कोई ख़ास तरीक़ा या समय ढूँढ़ने का प्रयत्न व्यर्थ सा है। यदि जीवन-कोश का किसी विशेष समय में उत्पन्न होना सम्भव हो तो सभी वनस्पतियों तथा पशुओं के बीजों का वैसे ही एक ख़ास वक़्त में अलग-अलग उत्पन्न हो जाना सम्भव है। जब विज्ञान सभी प्रकार के प्राणियों को जीवन-कोश के विकास का फल ठहराता है तब कोई कारण नहीं कि जीवन-कोश को क्यों इस विकास-क्रम से ख़ारिज करके उसका कोई विशेष आरम्भ ढूँढ़ा जाय। जिस प्रकार परमाणुओं के अन्दर विकास की प्रक्रिया होने से

---

* कोश = Cell (सेल)।

† अणुवीक्षण-यन्त्र = ख़ुर्दबीन = Microscope (माइक्रसकोप)।

इतने मूल तत्त्व और इन मूल तत्त्वों में इस प्रक्रिया से धातु बनते हैं, उसी प्रकार इन धातुओं के अन्दर विकास की प्रक्रिया से जीवन-कोश उत्पन्न हुआ है और इससे सभी प्रकार के प्राणी प्रकट हुए हैं।

जीवन-कोश की बनावट

जीवन-कोश या सेल की शकल बहुत बारीक वृत्त की-सी होती है। इसके कई भाग होते हैं। जीवन-रस या जीवन-वाले भाग का नाम प्रोटोप्लाज़्म रक्खा गया है। एक प्रोटोप्लाज़्म में बारह करोड़ पचास लाख अणु होते हैं। (पुरुष के वीर्य के कोश का व्यास एक इञ्च का $\frac{१}{१२०}$वाँ भाग होता है।) यह जीवन-कोश अपनी ख़ूराक लेकर हज़म करना और फैलना शुरू करता है। ये एक से दो, दो से चार, चार से सोलह के हिसाब से बढ़ते हैं। एक क्षण में इनकी संख्या हज़ारों-लाखों तक जा पहुँचती है। एक ही प्रकार के असंख्य कोश मिलकर जब एक ही काम करते हैं, तब उनसे एक रेशा* बनता है। बहुत से रेशे मिलकर शरीर के अंगों के विभिन्न भाग बनते हैं जो अपने-अपने ख़ास काम करते हैं।

वनस्पतियों और पशुओं के अतिरिक्त प्राणियों का एक प्रकार बेक्टीरिया† है। ये प्राणी केवल अणुवीक्षण-यन्त्र के द्वारा नज़र आते हैं। तब साधारण आँख एक इञ्च के लाखवें हिस्से को इञ्च के दसवें हिस्से के बराबर देखती है। बेक्टीरिया की अगणित क़िस्में हवा, पानी और पृथ्वी के अन्दर पाई जाती हैं। थोड़ी सी क़िस्मों के बेक्टीरिया गन्दगी

---

* रेशा = Tissue (टिशू)।

† बेक्टीरिया = Bacteria.

में पैदा होकर वबाई बीमारियाँ पैदा करते हैं। शेष क़िस्में हानिकर नहीं होतीं। इनका बड़ा कार्य सजीव माद्दा में सड़ायँध पैदा करके उसे फिर निर्जीव अवस्था में लाना है।

मानोज़ा जैसे बहुतेरे बेक्टीरिया केवल एक ही कोशवाले हैं। एक मानोज़ा इंच का $\frac{१}{४००००}$वाँ भाग होता है। यदि घास का सत या पानी निकालकर रक्खा जाय तो दो दिन में यह बेक्टीरिया से भर जायगा। अमीबा* पहला प्राणी है जो अणुवीक्षण-यन्त्र से अच्छी तरह नज़र आता है। इसका जीवन-कोश स्वयं विभक्त होकर फैलता है। पशुओं के अन्दर कोश की उन्नति वनस्पतियों से ख़ूराक प्राप्त करने पर होती है। वनस्पतियों की मिक़दार बढ़ाने का बड़ा कारण पत्तों में हरे रंग की एक चीज़ होती है, जिसे क्लोरोफिल† कहते हैं। इसका काम यह होता है कि जानवर अपने अन्दर से जो कार्बन द्विओषित‡ ख़ारिज करते हैं उसे हवा में से लेकर सूर्य की किरणों की सहायता से कोश की संख्या को बढ़ाये।

विभिन्न प्राणियों की उत्पत्ति

मनुस्मृति आदि में सृष्टि को चार भागों में विभक्त किया गया है—उद्भिज, अर्थात् पृथ्वी से उत्पन्न होनेवाली वनस्पतियाँ, स्वेदज, अर्थात् पसीने और मैल से उत्पन्न होनेवाले प्राणी, अण्डज, अर्थात् अण्डों से उत्पन्न होनेवाले जीवधारी और जरायुज, अर्थात् जरायु या जेर से पैदा होनेवाले प्राणी। वृक्ष, जूँ, मछली, पशु आदि इनके उदाहरण हैं।

---

* अमीबा = Amoeba. † क्लोरोफिल = Chlorophyll.

‡ कार्बन द्विओषित = Carbornic acid gas या Carbon Dioxide (कारबोनिक एसिड गैस या कारबन डायेआक्साइड)।

कहा जाता है कि मेंढकों के शरीर के सूखे हुए टुकड़े मिट्टी में पड़े रहते हैं और बरसात में फिर उन टुकड़ों से ही मेंढक उत्पन्न हो जाते हैं।

यह तो सृष्टि के विभाजन का एक पुराना मोटा सा तरीक़ा है। वर्तमान काल में डारविन को निस्सन्देह जीवन-विद्या का प्रवर्तक समझना चाहिए। उसने अपने अनुभव और प्रयोगों से सभी जातियों का, विकास के द्वारा, धीरे-धीरे एक ही जाति* से उत्पन्न होना सिद्ध किया है। इस सिद्धान्त की झलक पतञ्जलि के योग-दर्शन (कैवल्यपाद २) में भी मिलती है—"जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्" प्रकृति को अपने अन्दर जज़्ब करने से एक जाति दूसरी में बदल जाती है। इसका अर्थ यह है कि बाह्य संस्कारों से प्रभावित होकर विकास के द्वारा जाति उन्नति करती है। इस प्रकार अपने अन्दर प्रकृति के गुण एकत्र करता हुआ अमीबा एक दिन देवता बन सकता है।

यदि हमें ख़याल रहे कि आरम्भ में मनुष्य से केवल कुछ आवाज़ें निकलीं जिनके, बाद में, निशान पर संकेत बनाये गये तो एक जीवन-कोश से सृष्टि का होना आसान मालूम होगा। इन्हीं कुछ आवाज़ों के इकट्ठा होने से शब्द, शब्दों से भाषा और एक भाषा से हज़ारों भाषाएँ उत्पन्न हो गईं। इसी प्रकार आरम्भ में दस तक गिनती बनी। इन दस अंकों के आधार पर ही गणित के लम्बे-चौड़े और पेचीदा नियम बने हैं।

डारविन का सिद्धान्त

डारविन ने मालूम किया कि इस विकास के अन्तस्तल में एक अन्य सिद्धान्त काम करता है, जिसे योग्यतम-अवशेष† कहना चाहिए। योग्य

---

* जाति = Species (स्पीशीज़)। † योग्यतम-अवशेष = Survival of the fittest. (सरवाइवल आव् दि फ़िट्टेस्ट)।

का अर्थ यह न समझना चाहिए कि वह ज़रूर अच्छा ही हो बल्कि यह कि वह अपने अन्दर इर्द-गिर्द की परिस्थिति के साथ अधिक अनुकूलता पैदा कर सके। बाह्य परिस्थिति दो प्रकार की होती है—अनुकूल और प्रतिकूल। अनुकूल परिस्थिति को अपने लाभ के लिए इस्तेमाल करना और प्रतिकूल परिस्थिति से अपने बचाव का प्रयत्न करना, जीवन बनाये रखने के लिए आवश्यक है। यों भी यह स्वाभाविक बात है कि अनुकूल परिस्थिति के अन्दर रहने से हर एक जानदार सुख अनुभव करता है और प्रतिकूल परिस्थिति के अन्दर रहने से दुःख। इसी कारण पहले के लिए राग और दूसरे के लिए द्वेष बढ़ जाता है। इसी प्रकार अपने आप को जीवित रखने के लिए हर एक प्राणी को दूसरों के मुक़ाबले पर संघर्ष करना पड़ता है। इसी संघर्षकाल में एक जाति के अन्दर भेद उत्पन्न हो जाते हैं और नई जाति की नींव पड़ जाती है। इससे निर्बल का विनाश होता है और बलवान् की उन्नति। उदाहरणार्थ, हिरनों को बलवान् पशुओं के शिकार हो जाने का भय रहता है। स्वभावतः तेज़ भागने में ही उनका बचाव होता है। चयन-नियम* के अनुसार केवल वही हिरन बच सकते हैं, जिनमें अधिक तेज़ भागने की योग्यता होती है। ऐसे हिरनों की नस्ल आगे उन्नति करती है। इसी प्रकार जहाँ अधिक सर्दी पड़ती है वहाँ लम्बी-लम्बी पशम वाले जानवरों की नस्ल उन्नति कर सकती है; अन्य जानवर सर्दी से जल्दी मर जाते हैं। झाड़ियों, पौधों और वृक्षों में रहनेवाले वही पतंगे उन्नति कर सकते हैं, जिनके रंग में पत्तों से अधिक समानता होती है क्योंकि पहचाने न जाकर वे अन्य

---

* चयन-नियम = Law of Selection (लॉ आव् सिलेक्शन)।

जानवरों के शिकार नहीं होते। समझदार प्राणियों की अवस्था में वही अधिक उन्नति करेंगे जो अपनी बुद्धि से अपने आपको इर्द-गिर्द की परिस्थिति के अनुकूल बना सकेंगे।

मानव-जाति तक आने में कितना समय लगा

इस प्रकार विभिन्न जातियाँ विकास और चयन के नियमों के अनुसार उन्नति करते-करते मानव जाति उत्पन्न करती हैं। इस विकास के उदाहरण हम अपने सामने मनुष्य की बनाई हुई चीज़ों, घड़ी, मोटर, साइकिल आदि के अन्दर पाते हैं। वर्तमान काल की घड़ी को पूर्ण होते लगभग तीन सौ वर्ष का समय लगा है। इन तीन सौ सालों में यह कई प्रकार की शकलों से होकर गुज़री है। लकड़ी के खिलौनों से शुरू होकर सैकड़ों प्रकार की साइकिलों की क्रमशः उन्नति का परिणाम वर्तमान साइकिल है। अब यदि उन बीच की अवस्थाओं का पता लगाने का प्रयत्न किया जाय तो किसी दूकान से वे पुराने नमूने नहीं मिल सकते। इसी प्रकार प्रकृति भी उन नमूनों को, जो उसके काम नहीं आते, एक तरफ़ फेंकती जाती है। पुरातत्त्व विद्या* से हमें इस विषय में बड़ी सहायता मिलती है।

पुरानी हड्डियों की खोज से मालूम हुआ है कि इस पृथ्वी पर तीन प्रकार के बड़े पशुओं को कितना समय लगा है। पहला युग मछलियों का गिना जाता है। इसकी आयु तीन करोड़ चालीस लाख वर्ष बताई जाती है। इस काल में पृथ्वी पर केवल मछलियाँ ही विद्यमान थीं। इसके पश्चात् दूसरा काल रेंगनेवाले जानवरों का है जिनकी आयु का अनुमान एक करोड़ दस लाख वर्ष लगाया गया है। इसके बीत जाने

* पुरातत्त्व विद्या = Archeology (आरकेआलोजी)।

पर वर्तमान काल दूध पिलानेवाले जानवरों का है जिसकी आयु के तीस लाख साल अब तक गुज़र चुके हैं। इनसे भी पूर्व दो युग हड्डी रहित प्राणियों के गुज़रे हैं। इनकी आयु का अनुमान किसी प्रकार नहीं लग सका। इन प्राणियों में पहले एक जीवन-कोशवाले और बाद में इनके अतिरिक्त एक से अधिक जीवन-कोशोंवाले जानदार थे। उन विभिन्न योनियों की संख्या, जिनमें से पशु-जीवन गुज़रा है, गिनी नहीं जा सकती। जीवन-विद्या का विद्वान् हैकल अपनी पुस्तक 'लॉस्टलिंक'* में लिखता है कि जीवन के आरम्भ होने से मनुष्य तक पहुँचने में छप्पन लाख तिहत्तर हज़ार योनियाँ होती हैं जो लुप्त हो चुकी हैं या इस समय जीवित हैं। अचम्भे की बात है कि पुराणों में भी ऐसा ही विचार पाया जाता है कि जीव को मनुष्य-योनि प्राप्त करने तक चौरासी लाख योनियों में से गुज़रना पड़ता है।

मनुष्य और ब्रह्माण्ड

विकास के सिद्धान्त पर कुछ लोग इसलिए हँसते हैं कि मनुष्य से निचली योनि बन्दर है अर्थात् एक दृष्टि से मनुष्य बन्दर की सन्तति हुआ। सच तो यह है कि इस तथ्य से घबराने की कोई बात नहीं है। सृष्टि के आरम्भ से उन परमाणुओं में विकास का सिद्धान्त काम करता है जिनसे समस्त ब्रह्माण्ड बनता है। यदि वही नियम प्राणियों के अन्दर काम करते हुए नई-नई जातियाँ उत्पन्न करे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है! वहशी मनुष्यों के कई ऐसे जंगली क़बीले अब भी पाये जाते हैं जिनका ऊँची क़िस्म के बन्दरों से भेद करना मुश्किल है। चीन और हिमालय के बीच में जो जंगल हैं, उनमें ऐसी शकल के जानवर हैं जो मनुष्य और बन्दर,

* लॉस्ट लिंक = Lost Link.

दोनों, से समता रखते हैं। हाल ही में जावा में एक पुरानी नसल की हड्डियाँ मिली हैं जिनको वैज्ञानिकों ने पूँछ-रहित बन्दरों के पंजर समझकर मनुष्य और बन्दर को मिलानेवाली जाति ठहराया है। बन्दर से उत्पन्न नसल कहलाने में हम जो शरम महसूस करते हैं वह बिलकुल दूर हो जाय यदि हम अपने आरम्भ का ध्यान करें। वह शुक्र* या नर-बीज क्या होता है जिससे हम बनते हैं? और, फिर नव मास में उसके अन्दर कैसे-कैसे परिवर्तन होते हैं! ख़याल किया जाता है कि इस नव मास के समय के अन्दर उस नर-बीज को उन सभी अवस्थाओं में से गुज़रना पड़ता है जिनसे एक जीवन-कोश को मनुष्य के दर्जे तक पहुँचने में गुज़रना पड़ता है। गर्भ-विज्ञान† के अध्ययन से मालूम होता है कि मनुष्य, सूअर, कुत्ते और ख़रगोश के बच्चों की उन्नति माता के पेट में बहुत समय तक एक ही ढंग पर होती है, बल्कि कई मास तक उनका रूप एक दूसरे जैसा होता है। इसके पश्चात् भेद शुरू होता है। सृष्टि के विकास का सिद्धान्त हमें यह सिखलाता है, कि मनुष्य कोई ख़ास तौर पर पैदा की हुई अलग हस्ती नहीं है, बल्कि वह ब्रह्माण्ड का वैसा ही एक टुकड़ा है जैसा कि एक परमाणु। ब्रह्मांड के साथ सच्चा भ्रातृ-भाव इसी शिक्षा से उत्पन्न हो सकता है।

ज्ञान कहाँ होता है?

एक बड़ा सवाल है—अहं‡, मैं हूँ, का ज्ञान किसको होता है? क्या ज्ञान मस्तिष्क में होता है जो स्वयं मांस का एक लोथड़ा है? मानव-शरीर

* शुक्र = Sperm (स्पर्म)। † गर्भ-विज्ञान = Embryology (एम्ब्रिआलोजी) ‡ अहं = Ego (ईगो)।

के अन्दर हर जगह दो प्रकार की रगें मौजूद हैं। बाहर के संस्कारों को बाहर से अन्दर ले जानेवाली ज्ञान-सम्बन्धी और अन्दर से बाहर आदेश लानेवाली क्रिया-सम्बन्धी रगें कहलाती हैं*। प्रारम्भिक अवस्था में ये रगें विद्यमान नहीं होती हैं। तब समस्त शरीर ही बाह्य संस्कारों से प्रभावित होता है। धीरे-धीरे शरीर की त्वचा का विशेष भाग इस काम में लग जाता है। बहुत सी योनियाँ गुज़र जाने पर मेरुदण्ड या रीढ़ की नस† पैदा हो जाती है, जिससे निकली हुई असंख्य रगें त्वचा के हर भाग में पाई जाती हैं। इसके पश्चात् उन्नति करते हुए रीढ़ के एक सिरे पर मस्तिष्क बनना शुरू हो जाता है, जो पशुओं में क्रमशः बढ़ते-बढ़ते सभ्य मनुष्य के अन्दर बड़ी मिक़दार का हो जाता है। अब हर एक चीज़ जो किसी रग पर प्रभाव करती है, संस्कार के रूप में रीढ़ या मस्तिष्क में जमा हो जाती है। जब एक ही संस्कार दूसरी बार होता है, तब उससे उसके पहले संस्कार का ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ आँख के सामने एक चित्र एक बार आता है। उसी चित्र के दूसरी बार आँखों के सामने आने से ज्ञान उत्पन्न होता है कि यह चित्र पहले देखा जा चुका है।

इन अनुभूतियों या संस्कारों के एकत्र होने से इनके लिए इच्छा या घृणा का भाव बढ़ता है। इनसे हमारे विचार बनते हैं। इनके सुख-दायक या कष्टप्रद होने से इनके पक्ष या विपक्ष में राय बनने या निश्चय की शक्ति‡ उत्पन्न होती है। यही कारण है कि हमको बाह्य संस्कारों का

---

* देखिए प्रकरण २१। † रीढ़ की नस = Spinal Cord (स्पाइनल कार्ड)। ‡ निश्चय की शक्ति = Will Power विल पावर)।

दोनों, से समता रखते हैं। हाल ही में जावा में एक पुरानी नसल की हड्डियाँ मिली हैं जिनको वैज्ञानिकों ने पूँछ-रहित बन्दरों के पंजर समझकर मनुष्य और बन्दर को मिलानेवाली जाति ठहराया है। बन्दर से उत्पन्न नसल कहलाने में हम जो शरम महसूस करते हैं वह बिलकुल दूर हो जाय यदि हम अपने आरम्भ का ध्यान करें। वह शुक्र* या नर-बीज क्या होता है जिससे हम बनते हैं ? और, फिर नव मास में उसके अन्दर कैसे-कैसे परिवर्तन होते हैं ! ख़याल किया जाता है कि इस नव मास के समय के अन्दर उस नर-बीज को उन सभी अवस्थाओं में से गुज़रना पड़ता है जिनसे एक जीवन-कोश को मनुष्य के दर्जे तक पहुँचने में गुज़रना पड़ता है। गर्भ-विज्ञान† के अध्ययन से मालूम होता है कि मनुष्य, सूअर, कुत्ते और ख़रगोश के बच्चों की उन्नति माता के पेट में बहुत समय तक एक ही ढंग पर होती है, बल्कि कई मास तक उनका रूप एक दूसरे जैसा होता है। इसके पश्चात् भेद शुरू होता है। सृष्टि के विकास का सिद्धान्त हमें यह सिखलाता है, कि मनुष्य कोई ख़ास तौर पर पैदा की हुई अलग हस्ती नहीं है, बल्कि वह ब्रह्माण्ड का वैसा ही एक टुकड़ा है जैसा कि एक पर-माणु। ब्रह्मांड के साथ सच्चा भ्रातृ-भाव इसी शिक्षा से उत्पन्न हो सकता है।

ज्ञान कहाँ होता है ?

एक बड़ा सवाल है—अहं‡, मैं हूँ, का ज्ञान किसको होता है ? क्या ज्ञान मस्तिष्क में होता है जो स्वयं मांस का एक लोथड़ा है ? मानव-शरीर

---

* शुक्र = Sperm (स्पर्म)। † गर्भ-विज्ञान = Embryology (एम्ब्रिआलोजी) ‡ अहं = Ego (ईगो)।

के अन्दर हर जगह दो प्रकार की रगें मौजूद हैं। बाहर के संस्कारों को बाहर से अन्दर ले जानेवाली ज्ञान-सम्बन्धी और अन्दर से बाहर आदेश लानेवाली क्रिया-सम्बन्धी रगें कहलाती हैं*। प्रारम्भिक अवस्था में ये रगें विद्यमान नहीं होती हैं। तब समस्त शरीर ही बाह्य संस्कारों से प्रभावित होता है। धीरे-धीरे शरीर की त्वचा का विशेष भाग इस काम में लग जाता है। बहुत सी योनियाँ गुज़र जाने पर मेरुदण्ड या रीढ़ की नसें† पैदा हो जाती है, जिससे निकली हुई असंख्य रगें त्वचा के हर भाग में पाई जाती हैं। इसके पश्चात् उन्नति करते हुए रीढ़ के एक सिरे पर मस्तिष्क बनना शुरू हो जाता है, जो पशुओं में क्रमशः बढ़ते-बढ़ते सभ्य मनुष्य के अन्दर बड़ी मिक़दार का हो जाता है। अब हर एक चीज़ जो किसी रग पर प्रभाव करती है, संस्कार के रूप में रीढ़ या मस्तिष्क में जमा हो जाती है। जब एक ही संस्कार दूसरी बार होता है, तब उससे उसके पहले संस्कार का ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ आँख के सामने एक चित्र एक बार आता है। उसी चित्र के दूसरी बार आँखों के सामने आने से ज्ञान उत्पन्न होता है कि यह चित्र पहले देखा जा चुका है।

इन अनुभूतियों या संस्कारों के एकत्र होने से इनके लिए इच्छा या घृणा का भाव बढ़ता है। इनसे हमारे विचार बनते हैं। इनके सुख-दायक या कष्टप्रद होने से इनके पक्ष या विपक्ष में राय बनने या निश्चय की शक्ति‡ उत्पन्न होती है। यही कारण है कि हमको बाह्य संस्कारों का

---

* देखिए प्रकरण २१। † रीढ़ की नस = Spinal Cord (स्पाइनल कार्ड)। ‡ निश्चय की शक्ति = Will Power विल पावर)।

ज्ञान है, परन्तु शरीर के आन्तरिक अङ्गों के काम करने का ख़ास पता हमें कुछ नहीं। भगवद्गीता के अध्याय १३ के श्लोक ५ और ६ में कहा गया है—"ये विकार—परिवर्तन—क्षेत्र, अर्थात् शरीर, में उत्पन्न होते हैं।" यह सत्य का एक पहलू है। वास्तविक सवाल जहाँ का तहाँ ही रह गया—क्या ज्ञान मस्तिष्क में होता है, जो स्वयं मांस का एक लोथड़ा है?

जड़ प्रकृति और ज्ञान

वर्तमान विज्ञान तो इस बात को ही पर्याप्त समझता है कि माद्दा, प्रकृति, उन्नति करता है और ये सब परिवर्तन माद्दा के अन्दर ही उत्पन्न होते हैं। परन्तु आर्यशास्त्र इसके मुक़ाबले पर यह मानते हैं कि ज्ञान मस्तिष्क में नहीं हो सकता। जाननेवाले को अपने स्वरूप का ज्ञान होना असम्भव है। वैसे ही जैसे आँख अपने आपको देख नहीं सकती। यह पुरुष है जो चेतन रूप में बैठकर प्रकृति के अन्दर सभी परिवर्तन उत्पन्न करता और उनका तमाशा देखता है। भगवद्गीता के अध्याय १३ के श्लोक २१ में कहा गया है—"यह पुरुष है जो प्रकृति के इन गुणों का निरीक्षण करता है। पुरुष का इन गुणों में बँध जाना ही उसके जन्म-मरण का कारण होता है।" विकास-क्रम के अन्दर यदि प्रकृति के साथ पुरुष को काम करता हुआ माना जाय तो यह क्रम एक प्रकार का आत्मिक विकास हो जाता है, जिसमें प्रकृति विभिन्न रूप धारण करती है। ये सब आत्मा की उन्नति की विभिन्न सीढ़ियाँ होती हैं, जिनके द्वारा मनुष्य जीवन की बहुत ही निचली अवस्था से शुरू होकर ऊँची अवस्था तक जा पहुँचता है। स्वामी शङ्कराचार्य यह मानते हैं कि जिस वस्तु में अहङ्कार, मैं का होना, पाया जाता है वह प्रकृति के अन्दर एक सर्वव्यापक शक्ति,

अर्थात् पुरुष की व्यक्तिगत चेतनता* है। यही चेतना प्रकृति की विभिन्न अवस्थाओं में बदलती हुई अपने विशेष उद्देश को पूर्ण कर रही है। यह उद्देश वही है जो पानी की उस बूँद का है जो चाहे बादलों के द्वारा और चाहे भूमि के अन्दर से होकर समुद्र तक पहुँचने के प्रयत्न में लगी होती है। इसे आवागमन कहा गया है।

आत्मा का आवागमन

रेखागणित में बताया जाता है कि बिन्दु और रेखा काल्पनिक बातें हैं। वे कुछ चीज़ नहीं हैं, परन्तु उनका ऐसा अस्तित्व है कि उस पर समस्त गणित अवलम्बित है। अफ़लातून कहता है कि यह केवल विचार† है जो एक शरीर को छोड़कर दूसरे में जाता है। शापनहावर का मत है कि केवल वासना‡ शरीर बदलती है। बौद्धमत इसे कर्म कहता है जो अपने इर्दगिर्द इन्द्रियों का सूक्ष्म शरीर एकत्र कर लेता है। यह सूक्ष्म शरीर एक से दूसरा स्थूल शरीर धारण करता है। बौद्धों के विचार में कर्म का अन्त ही निर्वाण या मुक्ति है। बौद्ध मतवाले आवागमन का बड़ा दृष्टान्त बगूला देते हैं। हवा के अन्दर गति एक विशेष रूप धारण करके अपने इर्द गिर्द मिट्टी के कण जमा कर लेती है। इससे उसका विशेष आकार बन जाता है। जब यह बगूला एक जगह ख़तम हो जाता है तब वही गति दूसरे स्थान में जाकर नया शरीर धारण करती है। आज कल के

---

* व्यक्तिगत चेतनता = Individual Consciousness (इंडिविजुअल कानशसनेस।

† विचार = Idea (आइडिया)। ‡ वासना = Will (विल)।

आविष्कारों में बेतार का तार* का उदाहरण इस सिद्धान्त को स्पष्ट करता है। हज़ारों मीलों के अन्तर पर दो स्थानों पर औज़ार रक्खे हैं। आवाज़ एक जगह की जाती है परन्तु ईथर के द्वारा उसी क्षण वह दूसरे स्थान में जा सुनाई देती है। इसी प्रकार जब विशेष प्रकार के गुण एक स्थान को छोड़ते हैं तब उसी समय अपने योग्य दूसरे औज़ार या शरीर में जा प्रवेश करते हैं। मौलाना रूम ने कहा है—"हमचो सब्ज़ा बारहा रोयदा अम," (वनस्पतियों के समान मैं कई बार उत्पन्न हुआ हूँ)। शम्सुल् तबरेज़ कहता है—

चन्दीं हज़ारांसाल शुद कालिबम रा साख़तन्द.
ईं कालिबे जुज़वी मबीं मन आशिक़े देरीना अम।
बानूह दरकश्ती बुदम बायूसुफ़ अन्दर क़ैद चाह,
अन्दर दम ईसा बुदम मन आशिक़े देरीना अम।
आदम न बूद मन बुदम आलम न बूद व मन बुदम,
ईं दम न बूद व मन बुदम मन आशिक़े देरीना अम।
शाहे हक़ीक़त बूदा अम पीरे तरीक़त बूदा अम,
शहरे शरीअत बूदा अम मन आशिक़े देरीना अम।

(कई हज़ार साल हुए, उन्होंने (प्रकृति ने) मेरे शरीर को बनाया। मेरा पृथक् हुआ शरीर मत देखो। मैं प्राचीन काल का आशिक़, प्रेमी. हूँ। नूह के साथ मैं उसकी नाव में था। मैं युसफ़ के साथ कुएँ में क़ैद था। मैं ईसा के दम के अन्दर विद्यमान था। मैं बहुत पुराना प्रेमी हूँ। जब आदम भी उत्पन्न न हुआ था तब मैं मौजूद था। जब

* बेतार का तार = Wireless (वायरलेस)।

यह संसार न था तब भी मैं मौजूद था। जब यह दम न था तब भी मैं मौजूद था। मैं बहुत पुराना प्रेमी हूँ। मैं हक़ीक़त, ज्ञान, का बादशाह रहा हूँ, तरीक़त का पीर और शरअ का शहर भी। मैं तो पुराना प्रेमी हूँ।)

आवागमन और भगवद्गीता

भगवद्गीता के अध्याय १४ के श्लोक ५ में कहा गया है--"प्रकृति के गुण, सत्त्व, रज और तम, जीव को शरीर के साथ बाँध देते हैं।" अध्याय १५ के श्लोक ७,८ और १० में बताया गया है—"जीव-लोक में मेरा ही अंश जीव के अलग रूप में अपने चारों ओर इन्द्रियाँ एकत्र करके प्रकृति के अन्दर हरकत करता है; और, जब यह शरीर छोड़ता है तब उनको साथ लेकर इस प्रकार चला जाता है जिस प्रकार हवा फूलों में से सुगन्ध लेकर चली जाती है। अज्ञानी लोग इसके आने-जाने या प्रकृति के गुणों में फँसने को नहीं देख सकते; यह तो केवल ज्ञानियों को नज़र आता है।" अध्याय २ के श्लोक १३ में बताया गया है—"जीव को इस शरीर में बचपन, जवानी और बुढ़ापा आते हैं। मृत्यु के बाद उसे नया शरीर मिल जाता है।" आगे चलकर श्लोक २२ में कहा गया है—"कपड़ों के फट जाने पर मनुष्य उन्हें उतार देता है। ऐसे ही जीव एक शरीर को छोड़ दूसरा धारण कर लेता है।" अध्याय ६ के श्लोक ४१,४२ और ४३, अध्याय ७ का श्लोक १६ और अध्याय ८ के श्लोक २५ आदि भी आवागमन का वर्णन करते हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है—पुरुष प्रकृति में क्यों आ फँसता है? बात यह है कि प्रकृति और पुरुष, दोनों, कार्य कारण की तरह लाज़िम और मलज़ूम हैं; ये एक दूसरे से अलग नहीं रह सकते। भगवद्गीता में इन

दोनों को ब्रह्म के स्वभाव के दो पहलू, परा और अपरा, कहा गया है। प्रलय के समय प्रकृति तम अवस्था में होती है। ब्रह्माण्ड-उत्पत्ति के समय इसकी अवस्था रज की हो जाती है। सत्त्व की अवस्था में पुरुष ज्ञान को पहुँचकर अपने स्वरूप को प्राप्त करता है।

श्रद्धा और मनुष्य

भगवद्गीता के अध्याय ८ के श्लोक ५,६ और ७ में कहा गया है—"अन्त समय, मरते वक्त, जिसका जो ख़याल होता है वह वैसा ही शरीर ग्रहण करता है। इसलिए अर्जुन, तू हर समय मेरा ध्यान रख ताकि अन्त में मेरा ध्यान रहने से तू मेरे पास आवे।" प्रत्येक मनुष्य प्रति क्षण अपने समस्त पिछले जीवन का फल होता है। ज्यों-ज्यों उसके ऊपर और संस्कार पड़ते जाते हैं त्यों-त्यों वह बदलता जाता है। इन संस्कारों के संग्रह का नाम ही चरित्र* है। इस चरित्र से वह श्रद्धा निमित्त† के रूप में उत्पन्न होती है जो मनुष्य से अन्य कर्म करवाकर अपने गिर्द संस्कार एकत्र करती है। भगवद्गीता के अध्याय १७ के श्लोक ३ में कहा गया है—"मनुष्य वही है जो उसकी श्रद्धा है।" कार्य कारण का यह क्रम मनुष्य के अन्दर भी वैसा ही चलता है जैसा कि ब्रह्माण्ड में।

हमारे संस्कारों और कर्मों पर हमारे भोजन का भी बड़ा प्रभाव होता है। अध्याय १७ के श्लोक ८, ९ और १० विभिन्न प्रकार के भोजन का असर वर्णन करते हैं। उपनिषद् में भी कहा गया है—"आहार शुद्ध होने से मन निर्मल होता है।" भीष्म पितामह की कथा से इसका बड़ा

---

* चरित्र = Character (कैरक्टर)।
† निमित्त = Motive (मोटिव)।

प्रमाण मिलता है। बाणों की शय्या पर लेटे हुए वे उपदेश कर रहे थे—"जिस सभा में अन्याय हो उससे धर्मात्मा को उठ जाना चाहिए।" इस पर प्रश्न किया गया—"द्रौपदी के अपमान के समय आप उस सभा में क्यों बैठे रहे?" इसके उत्तर में उन्होंने स्पष्टतया स्वीकार किया—"पाप के अन्न ने उस समय मेरी आत्मा को मलिन कर रक्खा था।"

मनुष्य में परिवर्तन

कुछ आदमी भगवद्गीता* पर यों हँसी उड़ाते हैं—"आदमी सारी उमर पाप करता रहे और अन्त समय में पहुँचकर परमात्मा का ध्यान कर ले। यह तो मुक्ति का बड़ा आसान तरीक़ा है।" यह बात बेसमझी की है। पर सम्भव नहीं कि जिस मनुष्य का मन सारी उमर विशेष विचारों में फँसा रहा हो वह अन्तकाल में पहुँचकर अचानक परमात्मा की ओर चला जाय। इसके विपरीत उस समय तो बार-बार वही बातें दुःख के साथ मन में आती हैं जिनमें दिल सदा लगा रहा हो। जिन लोगों ने किसी मनुष्य को मरते देखा है, उन्होंने यह अनुभव किया होगा कि किस प्रकार प्राण-त्याग करते समय आदमी उन्हीं बातों का ध्यान करता और मुख से उसी प्रकार के शब्द या वाक्य बड़बड़ाता है जो उसके मन में सदा रहे थे।

मनुष्यों के अन्दर, उनके जीते जी भी, अचानक परिवर्तनों के जो उदाहरण मिलते हैं वे केवल प्रकट रूप में वैसे होते हैं, वास्तव में नहीं। यद्यपि वाल्मीकि पहली उमर में डाकू था, परन्तु उस समय भी वह अपने माता-पिता आदि सम्बन्धियों को सुख देने के लिए डाके डाला करता था।

---

* अध्याय ८, श्लोक ५।

उसका प्रयोजन उस समय भी एक प्रकार से दूसरों का भला था, जो ऋषि बन जाने पर उसके अन्दर दूसरे रूप में प्रकट हुआ। प्रकट कार्यों से ही मनुष्य की वास्तविकता नहीं मालूम होती। वह तो उसकी श्रद्धा में पाई जाती है।

शुरू-शुरू में औरङ्गज़ेब शराब बहुत पीता था और विलास-प्रिय भी था। गद्दी मिलते ही वह बड़ा परहेज़दार बन गया। वास्तव में बात यह थी कि जवानी चढ़ते ही उसके अन्दर यह इच्छा प्रबल हुई कि उसे गद्दी मिल जाय। अपने पिता की मजलिसों में सर्वप्रिय बनने के लिए वह सभा के नियमों पर चलता था। बाद में उसका उद्देश उस मज़हबी दल को ख़ुश करना और मज़बूत बनाना था, जिसने उसे गद्दी प्राप्त करने में सहायता दी थी। इसी प्रकार बन्दा, लछमनदास, बैरागी साधु से एक बड़े सेनानायक बन गये। यही नहीं, उन्होंने पञ्जाब का इतिहास बिलकुल और ही बना दिया होता यदि लाहौर के पास बाग़बानपुरा की लड़ाई में पाँच हज़ार तत्ख़ालसा सिक्ख उनका साथ छोड़कर लाहौर के मुसलमान शासक के साथ न जा मिले होते। इस प्रसिद्ध राष्ट्र-नायक की यदि आन्तरिक अवस्था को देखा जाय तो मालूम होगा कि बाद में भी उसका दिल वही था जिसने यौवन में हिरनी का शिकार करके उसका पेट चीरा था। हिरनी के पेट से जीवित बच्चा निकलने पर उन्हें इतना दुःख हुआ कि उन्हें संसार से ही विरक्ति हो गई। फिर जब गुरु गोविन्दसिंह ने इन्हीं बैरागी का ध्यान देश की करुणाजनक अवस्था की ओर दिलाया तब वे सेनानायक बन गये।

सातवाँ परिच्छेद

मानसिक विकास

ज्ञान का विकास

ब्रह्माण्ड में ज्यों-ज्यों विभिन्न प्रकार के प्राणी उत्पन्न होते हैं त्यों-त्यों उनके अन्दर धीरे-धीरे दिमाग़ की उन्नति होती जाती है। इससे ज्ञान का आरम्भ होता है और मनुष्य-जाति के अन्दर मानसिक विकास का चक्र चलता है।

यह विकास क्योंकर शुरू होता है? और किन कारणों से उन्नति करता है?—इस विषय में कई मत हैं। इनमें से एक तो बकल* का आर्थिक मत† है जो उसने अपनी अँगरेज़ी की प्रसिद्ध पुस्तक "हिस्ट्री आव् सिवलिज़ेशन" अर्थात् "सभ्यता का इतिहास" में वर्णन किया है। इसके अनुसार ज्ञान के आरम्भ के तीन बड़े कारण हैं—भोजन का आधिक्य, जलवायु और प्राकृतिक दृश्य। जिन देशों में सभ्यता शुरू हुई उनकी भूमि किसी न किसी बड़ी नदी के कारण भोज्य पदार्थ बहुत ज़्यादा उत्पन्न करती थी। वहाँ का जलवायु गरम होने से मनुष्यों की आवश्यकताएँ बहुत कम थीं। वहाँ लोगों को बड़े मकानों की ज़रूरत भी नहीं थी। गंगा, नील और दजला-फ़रात, इस मत के बड़े उदाहरण हैं। इन प्रदेशों में गेहूँ, चावल और खजूर अधिक पैदा होने से मनुष्य का पेट आसानी से भर सकता था। इस प्रकार भोजन का झंझट न रहने से बहुतेरे लोगों को सोच-विचार के लिए काफ़ी समय मिलता था। प्राकृतिक दृश्यों को बकल इसलिए आवश्यक समझता है कि ये मनुष्य में सोचने की ओर

---

* बकल = Buckle.

† आर्थिक मत = Economic Theory (इकानामिक थियरी)।

झुकाव उत्पन्न करते हैं। परन्तु ये इतने अधिक न हों कि मनुष्य के दिमाग़ पर प्रभुत्व जमाकर उसे सोचने से ही रोक दें। इन प्रदेशों में परिस्थिति ऐसी अनुकूल थी कि वहाँ एक ऐसी श्रेणी पैदा हो गई जिसके पास काम करनेवालों की संख्या बहुत बढ़ गई। निश्चिन्तता होने से उसे मनुष्य की वर्तमान उन्नति की नींव डालने का अवसर मिला।

यह भी ख़याल रखना चाहिए कि विभिन्न देशों की भूमि और जलवायु मनुष्य के शरीर, रंग, मस्तिष्क और भाषा पर बड़ा विचित्र प्रभाव डालती हैं। इँगलैंड, जापान, अफ़रीका आदि के रहनेवाले लोगों के रंग-रूप आदि में जो फ़र्क़ है वह प्रायः उनके इर्द-गिर्द की प्रकृति के प्रभाव से है। इसी प्रकार प्राचीन यूनान देश में नगरों के प्रजातन्त्रों की नींव इसलिए पड़ी कि यूनान में इतनी छोटी-छोटी अलंघ्य पहाड़ियाँ हैं कि तब सभी नगरों का एक शासन के अधीन होना सम्भव न था।

ज्ञान का आरम्भ और पशु-जीवन

हरबर्ट स्पेंसर विकास के सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान का आरम्भ पशु-जीवन में ही ढूँढ़ता है। पशुओं में दो बड़ी आवश्यकताएँ या इच्छाएँ पाई जाती हैं, प्रथम पेट भरने की और दूसरी समय पर भोग की। दूसरी इच्छा के साथ साथ सन्तान-प्रेम और वंश-वृद्धि का भाव भी उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दों में स्वयं जीवित रहना और नसल को क़ायम रखना—ये पशु-जीवन के दो बड़े मौलिक सिद्धान्त हैं। जानवर दो प्रकार के हैं। एक वे जो अपनी ख़ूराक आसानी से हासिल कर सकते हैं; उदाहरणार्थ कबूतर, हिरन, भेड़ आदि। दूसरे वे शिकारी जानवर हैं जिनको अलग-अलग ख़ूराक ढूँढ़ने में आसानी होती है। इस प्रकार के जानवर बाज़, शेर, कुत्ता आदि हैं। कुत्ता यहाँ तक तो समझदार है कि अपनी चूसी हुई हड्डी को मिट्टी से ढाँपकर दूसरे दिन के लिए रख देता है ताकि कोई दूसरा उसे खा न ले; परन्तु इसके साथ ही वह अपनी जाति का इतना वैरी है कि भारत में इसका नाम गाली के बराबर हो गया है। इसके

बारे में कई कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। एक कुत्ता अपने गाँव में साथियों के बर्ताव से तंग आ गया। उसने किसी दूसरे गाँव में जाने का निश्चय किया। परन्तु जहाँ कहीं जाता वहाँ के कुत्ते गाँव से मील भर बाहर ही उसके पीछे पड़ जाते और वापस भगा देते। इस प्रकार भागते-भागते वह फिर अपने ही गाँव में आ पहुँचा। वहाँ के दूसरे कुत्तों ने उससे पूछा—फिर क्यों आ गये? उसने उत्तर दिया—आप भाइयों की कृपा से। मैं जहाँ कहीं जाता था वहाँ के कुत्ते मुझे पहले से ही निकालने को तैयार होते थे।

पहली क़िस्म के जानवरों को शिकारी जानवरों से बचने के वास्ते भी इकट्ठा रहना लाभकारी होता है। उनमें बहुतेरे ऐसे हैं जिनको बच्चों का सम्मिलित प्रेम सदा जोड़े के रूप में रहना सिखला देता है। सारस का उदाहरण बड़ा विचित्र है। नर और मादा बच्चों की जोड़ी नियत करते समय बहुत से सारस एकत्र होकर मानवी विवाह के समान आनन्द मनाते हैं।

इकट्ठे रहने से पशुओं में भी एक दूसरे से सहानुभूति और सम्मिलित रक्षा का विचार उत्पन्न हो जाता है। दो घोड़े इकट्ठे रहने से आपस में एक दूसरे पर प्राण तक न्योछावर करने पर तैयार हो जाते हैं। हाथियों के उदाहरण से यह बात ख़ूब स्पष्ट हो जाती है। जङ्गल में चरते वक़्त नेता सबसे आगे होता है और बच्चे बीच में। शत्रु के मुक़ाबले में कायरता दिखलाने पर नेता को हटा दिया जाता है।

भोजन जुटाने के लिए इकट्ठा रहना—यह बात चिउँटी और शहद की मक्खी के उदाहरणों से अच्छी तरह प्रकट होती है। इन दोनों के अन्दर विभिन्न प्रकार के काम करने के वास्ते हिन्दुओं के वर्णों के समान विभाजन पाया जाता है। कुछ का काम ख़ूराक जमा करना होता है, कुछ का सन्तान पैदा करना, कुछ शत्रु से लड़ने का काम करती हैं और शेष अपने ऊपर सेवा का कार्य लेती हैं।

वहशी आदमी और उन्नति

वहशी आदमी भी इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार चलते हैं। इकट्ठे रहने से उनके अन्दर सहानुभूति की भावना उत्पन्न होती है। भोजन-

सामग्री की खोज में ज्यों-ज्यों औज़ारों की ज़रूरत पड़ती है, त्यों-त्यों ये औज़ार मिल्कियत या यादगार का काम देते हैं। इस प्रकार सन्तति-प्रेम के साथ सम्पत्ति-प्रेम का बीज बोया जाता है। भोजन प्राप्त करने के उद्देश से वहशी क़बीलों में परस्पर लड़ाइयाँ होती हैं। इनमें जो मनुष्य अच्छी तरह मुक़ाबला करके क़बीले को बचाते हैं वे अपने जीवन-काल में बुज़ुर्ग और मृत्यु के पश्चात् जनसाधारण की दृष्टि में देवता बन जाते हैं। इन लोगों के कारनामों को आनेवाली नसल में जारी रखना क़बीले के लिए इस कारण आवश्यक होता है कि वीरों के लिए प्रशंसा और कायरों के प्रति घृणा उत्पन्न हो। ऐसे बुज़ुर्गों के मृत शरीरों को क़ायम रखने के लिए क़ब्रें बनाई जाती हैं। ये क़ब्रें पूजना और इसके साथ मक़बरे बनाना मज़हब की एक नींव है। उनके गुणों को गाने और लोगों को सुनानेवाले मजावर मज़हबी नेता बन जाते हैं।

हरबर्ट स्पेंसर ने क़ब्र-परस्त मज़हबों और उनके रीति-रिवाजों का अध्ययन करके ये निष्कर्ष निकाले हैं। मिस्री, चाल्डियावासी और यहूदी रूह या आत्मा को डबल माना करते थे। यह डबल या जोड़ा रूह उन्हें स्वप्न आदि में दिखलाई दिया करती थी। इस जोड़े के लिए क़ब्र बनाना वे आवश्यक समझते थे। परन्तु आर्य जाति के लिए इस निष्कर्ष का ठीक कहना मुश्किल है। आर्यों में क़ब्र-पूजा का निशान भी न था। वे मुर्दे को जलाना ही धर्म समझते थे; क्योंकि वे जानते थे कि मुर्दे के अन्दर से आत्मा कहीं और चली जाती है। प्राचीन यूनान आदि देशों में प्राकृतिक शक्तियों को सूक्ष्म आत्माएँ समझकर उनकी पूजा का रिवाज पाया जाता था। इसका भी क़ब्र-परस्ती से कोई सम्बन्ध नहीं मालूम देता*।

---

* इस प्रकार के तर्क के आधार पर उपरि-लिखित निष्कर्ष निकालना तर्कशास्त्र का निगमनात्मक (Deductive, डिडक्टिव) तरीक़ा कहा जाता है। योरप में यह तरीक़ा सोलहवीं शताब्दी में बेकन (Bacon) ने जारी किया। इसका नियम यह है कि विज्ञान की सहायता से जो बातें देखी

अवतार और पैग़म्बर

मनुष्य की प्रारम्भिक अवस्था में असाधारण दिमाग़ रखनेवाले ऐसे कई व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने संसार का पथ-प्रदर्शन किया। प्रायः देखा जाता है कि यदि बच्चे को कुछ न सिखलाया जाय तो वह वहशी सा बन जाता है। यहाँ तक कि भाषा न सिखलाने से वह कुछ बोल भी नहीं सकता। इसी प्रकार जो दल या क़बीले वहशी हालत में चले आ रहे हैं वे बहुत काल से इसी अवस्था में हैं और उन्होंने कोई उन्नति नहीं की। सिखलाये जाने पर उनमें विचित्र परिवर्तन उत्पन्न हो जाता है।

बकल भी यह मानता है कि संसार में असाधारण बुद्धि रखनेवाले मानव पैदा होते हैं जो मनुष्यों के लिए दीपक का काम देते हैं। उन्हें वह प्रकृति से ऊपर अतीतात्मक* शक्तिवाला कहता है। वह उनके होने का कोई कारण नहीं बतला सकता। मत्सीनी (मेज़िनी) कहता है कि संसार के पथ-प्रदर्शन के लिए ईश्वर आवश्यकतानुसार अपने आपको मनुष्यों में प्रकट करता है। यह विचार भगवद्गीता के चौथे अध्याय में यों पाया जाता है—"धर्म की रक्षा के लिए जब-जब ज़रूरत पड़ती है, तब-तब मैं जन्म लेता हूँ।" इस्लाम, ईसाई और यहूदी—तीनों सेमेटिक मज़हब इसे मज़हबी सिद्धान्त बनाकर इस पर अपनी नींव रखते हैं। विशेष व्यक्तियों

गई हों, उनको एकत्र करके उनसे विशेष निष्कर्ष निकाले जाते हैं। बेकन से पूर्व पुरानी दुनिया के तर्क का तरीक़ा आगमनात्मक (Inductive, इण्डक्टिव) था। इसके अनुसार साधारण निरीक्षण में से काल्पनिक शक्ति के द्वारा नियम स्थिर करके उनसे सामयिक निष्कर्ष निकाले जाते हैं। वर्तमान तर्कशास्त्री निगमनात्मक तरीक़े को कितना ही अच्छा कहें, इस बात से इनकार नहीं हो सकता कि पुराने तरीक़े के न होने पर किसी बड़े दर्शन (Philosophy, फिलासफी) की नींव न पड़ सकती थी।

* अतीतात्मक = Transcendental (ट्रांसेंडेंटल)।

को इन्होंने ख़ुदा के पैग़म्बरों का पद दिया जिनकी ओर ख़ुदा अपने फ़रिश्ते सन्देश-वाहक के रूप में भेजता था और कई बार उनसे बातचीत भी किया करता था। ख़ुदा के ये सब आदेश और हिदायतें इन मज़हबों की पवित्र पुस्तकों में पाई जाती हैं।

आर्यशास्त्र ब्रह्माण्ड के सकल ज्ञान को वेद कहते हैं। वेद को भगवद्गीता में ब्रह्म कहा गया है। यह ज्ञान अटल और अनादि है। इस ज्ञान को मन्त्रों के रूप में देखने और स्पष्ट करनेवाले ऋषि कहलाते हैं। इस बात पर थोड़ा मत-भेद पाया जाता है कि यह समस्त ज्ञान मानव-सृष्टि के आरम्भ में ही कुछ ऋषियों के द्वारा प्रकट हुआ या विभिन्न समयों में। इस विषय में एक मत तो यह है कि सब वेद आरम्भ में ही विशेष मन्त्रों के रूप में प्रकट हो गये और इनके अर्थ समझनेवाले ऋषि बाद में भी होते रहे। (इसी कारण उन ऋषियों के नाम पर वे मन्त्र पाये जाते हैं।) दूसरा मत यह है कि वेद-मन्त्र भी विभिन्न समयों पर उन ऋषियों पर प्रकट होते रहे जिनके नाम मन्त्रों से मिलते हैं। परन्तु एक बात पर सभी सहमत हैं—वेद स्वतः प्रमाण हैं और उनकी निन्दा करनेवाला नास्तिक है।

यदि प्राचीन आर्य-साहित्य के इतिहास पर विचार किया जाय तो मालूम होता है कि आर्य-जाति के ज्ञान का आरम्भ तथा उन्नति आर्यों के विचारों की उड़ान और प्रकृति के साथ संपर्क पर निर्भर है। आर्य-साहित्य के चार काल हैं। वैदिक काल में ऋषि प्रकृति के दृश्य देखकर वैसे ही प्रेम तथा आश्चर्य प्रकट करते हैं जैसे जन्म लेने के बाद बच्चा। यह बच्चा जब आँखें खोलता है तब संसार की हर एक वस्तु, यहाँ तक कि सूर्य और चाँद को भी, अपने हाथों में लेने की इच्छा और प्रयत्न करता है।

दूसरा काल उपनिषदों का है जब कि बुद्धि शान्त होकर ध्यान में लगी हुई मालूम देती है। ब्रह्माण्ड के अन्तस्तल में जो रहस्य काम करते हैं, उनकी खोज का उल्लेख उपनिषदों में पाया जाता है। नचिकेता का प्रश्न कितना सुन्दर है—मृत्यु के बाद आत्मा किधर जाती है? मैत्रेयी याज्ञवल्क्य से पूछती है—आत्मा क्या है?

तीसरे काल में तर्क प्रधान है। इसमें दर्शन के कई सम्प्रदाय* पैदा हो गये। ये सब दुःखदर्शी हैं और इस दुःख को दूर करने के लिए अपने-अपने तरीक़े से उपाय ढूँढ़ते हैं। बौद्धमत इस दर्शन को मज़हब के दर्जे पर ले जाता है—"इच्छा छोड़ दो। बस, यही निर्वाण है।" भगवद्गीता बताती है कि ज्ञानी की दृष्टि में सुख और दुःख बराबर हैं। अध्याय २ का श्लोक ५६ और अध्याय १४ के श्लोक २४-२५ बताते हैं—"संसार में दुःख है परन्तु उससे डरो मत। अपने कर्त्तव्य का पालन करते जाओगे तो दुःख ही सुख मालूम होगा।" बौद्धमत दुःख से घबराकर उससे मुक्ति ढूँढ़ता है। भगवद्गीता दुःख के ऊपर विजय प्राप्त कर उसे सुख बना देती है।

चौथा पौराणिक काल है। इसमें पुराणों† का रिवाज पाया जाता है। कभी-कभी लोग प्राचीन भाषा के शब्दों के प्रयोग न समझकर उनके अर्थ अपने हालात के अनुसार करने लगते हैं।

भाषा का आरम्भ

ज्ञान के आरम्भ के साथ मिलता हुआ प्रश्न भाषा का आरम्भ है। इस विषय पर विचार करना आवश्यक है। स्वामी दयानन्द तो वेद-ज्ञान के साथ शब्द को भी अनादि मानते हैं। शब्द ज्ञान का पहनावा है। जब ऋषियों के मन में ज्ञान का प्रकाश हुआ तब वह इन्हीं शब्दों के द्वारा हुआ। लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक वेद-ज्ञान को अनादि मानते हैं। परन्तु वे यह भी कहते हैं कि हर हिमानी युग‡ के अन्त में इस पृथ्वी पर एक तूफ़ान आता है जो बीस पचीस हज़ार वर्ष के बाद एक प्रलय सी होती है। तब यह ज्ञान विचारों के रूप में याद रह जाता है। फिर सृष्टि फैलने पर इनको ऋषि अपने शब्दों में वर्णन करते हैं। मनुस्मृति में इस तूफ़ान को मनु का तूफ़ान कहा गया है। संभवतः इसी को बाइबल नूह का तूफ़ान बताती है। (शब्द मनु और नू में साम्य बहुत पाया जाता है।)

* दर्शन के सम्प्रदाय = Schools of philosophy (स्कूल्ज़ आव फिलासफी)। † पुराण = Mythology (माइथालोजी)।
‡ हिमानी युग = Glacial period (ग्लेशियल पीरियड)।

बाबू अरविन्द घोष ने भाषा के आरम्भ को विकास के सिद्धान्त के अनुसार सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनके परिणाम इस प्रकार हैं— आरम्भ में मनुष्य पशुओं के समान कुछ आवाज़ें निकालते थे। (इन आवाज़ों को अरविन्द बाबू ने बीज-शब्द* कहा है।) वे आवाज़ें विशेष गतियों के सम्बन्ध से विशेष अर्थ प्रकट करती थीं। एक काल के बाद जब इन आवाज़ों के कई विभिन्न अर्थ समझे जाने लगे तब ये धातु† बन गईं। ज्यों-ज्यों इन धातुओं के प्रयोग और अर्थ बढ़ते गये, त्यों-त्यों इनसे कई शब्द बनने शुरू हुए। पहले-पहल ये शब्द समष्टिगत‡ अर्थों में प्रयुक्त होते थे जिससे एक शब्द अवसर के अनुसार कई अर्थ देता था। इन शब्दों को तरल§, आसानी से बदलनेवाले, कहा गया है। (वेदों के बहुत से शब्द इस प्रकार के हैं।) बहुत समय गुज़रने पर जब इन शब्दों की संख्या बहुत बढ़ी तब एक-एक शब्द विशेष अर्थ देने लगा। इससे उसका अर्थ सीमाबद्ध हो गया। यही कारण है कि पुरानी संस्कृत में श्लेष का प्रयोग बहुत पाया जाता है और एक ही शब्द कई अर्थों में इस्तेमाल होता है। यह अन्वेषण भाषा-विज्ञान को एक नये रूप में प्रकट करता है। इस दृष्टि से अध्ययन करने पर मालूम होता है कि न केवल आर्य नसल की शाखाओं की भाषाएँ बल्कि अन्य भाषाएँ भी वैदिक भाषा से विशेष सम्बन्ध रखती हैं।

अक्षरों का आरम्भ

अक्षरों के आविष्कार में अन्य जातियों का हाथ दिखलाई देता है। लिखने की प्राचीनतम कला चीनियों की मालूम होती है। चीनी भाषा में हर एक पूर्ण वाक्य के लिए विशेष चिह्न या संकेत है। जो मनुष्य इस भाषा का पंडित होना चाहता है उसे लगभग पैंसठ हज़ार चिह्न याद करने पड़ते हैं। साधारण शिक्षा के लिए दो-तीन हज़ार चिह्नों का जानना

* बीज-शब्द = Seed sound (सीड-साउंड)।

† धातु = Root sound (रूट साउंड)। ‡ समष्टिगत = Collective (कलेक्टिव)। § तरल Fluid (फ्लूइड)।

आवश्यक होता है। चीनियों ने सातवीं शताब्दी से पूर्व ही छापाख़ाना, मुद्रण-यन्त्र और समाचारपत्र जारी किये थे। योरप के ईसाई पादरियों ने मुद्रण-कला चीन से ले जाकर योरप में प्रचलित की।

प्राचीन मिस्रवासी जानवरों के चित्र खींचकर लिखा करते थे। एक चित्र अवसर के अनुसार विभिन्न अर्थों के लिए संकेत होता था। इसको चित्र-लिपि* कहा जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी के दर्मियान एक लेख मिला जिस पर लेटिन भाषा के साथ कुछ चित्र विद्यमान थे। लेटिन भाषा से उस लेख की चित्र-लिपि पढ़ने में मदद मिली। इस चित्र-लिपि की सहायता से ईसा से छः-सात हज़ार वर्ष पूर्व के मिस्र का इतिहास मालूम हो गया है।

चाल्डिया के वासी रेखाओं की सहायता से लिखते थे। इसे क्यूनिफ़ार्म तरीक़ा† कहा जाता है। ये लोग ईंटों पर पुस्तकें लिखकर उन्हें आग में पका लेते थे। ऐसी पुस्तकों का एक संग्रहालय नैनवा के महलों के खँडहरों में पाया गया है।

टाइर‡ नाम के स्थान में रहनेवाले फ़िनीशियन§ लोग थे जिन्होंने ख़ास आवाज़ों के लिए ख़ास निशान नियत कर रक्खे थे। ये अक्षरों के रूप में थे। थीब्स|| का रहनेवाला काडमस नामक एक शख़्स ईसा से पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व इन अक्षरों को यूनान या ग्रीस में ले गया। यूनान से ये रोम पहुँचे और वहाँ से इनका रिवाज समस्त योरप में हो गया। फ़िनीशिया और चाल्डिया के अक्षर मिलाकर बेबेलोनिया के अक्षर बनाये गये। बेबेलोनिया के अक्षरों से अरबी लिपि उत्पन्न हुई। पुराने पारसी लोगों ने भी, यद्यपि उनकी भाषा आर्यभाषा की एक शाखा है, अक्षरों की नक़ल यहाँ से की।

---

* चित्र-लिपि = Hieroglyphics (हैरोग्लिफ़िक्स)।

† क्यूनिफ़ार्म तरीक़ा = Cuneiform method (क्यूनिफ़ार्म मेथड)।

‡ टाइर = Tyre. § फ़िनीशियन = Phœnician.

|| थीब्स = Thebes.

देवनागरी अक्षर अत्यन्त वैज्ञानिक ढङ्ग पर बनाये गये हैं। केवल यही अक्षर हैं जो उच्चारण-शास्त्र* के अनुगामी कहे जा सकते हैं। इसका मतलब यह है कि देवनागरी में जितनी आवाज़ मुँह से निकलती है उतनी ही लिखी जाती है और जो लिखी जाती है वही बोली जाती है। इनके प्रचलन का ठीक समय नहीं बताया जा सकता। सम्भव है कि प्राचीन काल में संसार की जातियों के पारस्परिक सम्पर्क के कारण ये अक्षर पाणिनि या किसी अन्य ऋषि ने बनाये हों।

समानता की एक विचित्र बात यह है कि जहाँ पर योरप की भाषाओं में अक्षर 'x' (एक्स), जो दो मिश्रित आवाज़ों के लिए इस्तेमाल होता है, एक ही है वहाँ देवनागरी में भी मिश्रित आवाज़ देनेवाला वैसा ही अक्षर 'क्ष' पाया जाता है।

भाषाओं का स्रोत

आर्य नसल की शाखाओं की भाषाओं का स्रोत एक भाषा मानने में तो किसी विद्वान् को इनकार नहीं; क्योंकि उनकी पारस्परिक समानताएँ बहुत प्रबल हैं। पारिवारिक प्रयोग के प्रायः समस्त शब्द, दिनों के नाम और दस तक की गिनती के शब्द एक जैसे ही मालूम देते हैं। यूनानी, लैटिन, जर्मन, अँगरेज़ी आदि और यहूदी भाषा में भी ईश्वर का नाम एक ही स्रोत, दिव्य धातु, से निकला हुआ है। दिव् धातु का अर्थ चमकना है।

भाषाओं की एकता का सबसे बड़ा प्रमाण उनके व्याकरणों में पाया जाता है। व्याकरण भाषा के पंजर के समान है। प्रायः सभी बच्चों को व्याकरण याद करने पर बड़ा ज़ोर दिया जाता है। परन्तु इसका वास्तविक लाभ बहुत कम लोगों को मालूम है। भाषाओं के व्याकरणों की तुलना करने से स्पष्ट नज़र आता है कि वे प्रायः हर बात में एक दूसरे के समान हैं। यदि भाषाओं में भिन्नता होती तो उनकी बनावट क्योंकर एक सी होती? बरमी और चीनी जैसी जिन भाषाओं का वास्तविक स्रोत से

---

* उच्चारण-शास्त्र = Phonetics (फोनेटिक्स)।

सम्बन्ध नहीं है, उनमें व्याकरण पाया ही नहीं जाता। कुछ लोग हैरान होते हैं कि यदि भाषाओं का स्रोत एक है, तो इतनी विभिन्नताएँ कहाँ से आ गईं। इसका उत्तर स्पष्ट है। थोड़ी-थोड़ी दूरी पर जलवायु आदि के प्रभाव से भाषा में परिवर्तन का होना एक स्वाभाविक क़ानून है। अपने आपको उस काल में समझिए जब न समाचारपत्र थे, न छापाख़ाने; और पुस्तक का उपलब्ध होना भी एक कठिन बात थी। अब आगे चलिए उस काल में, जब लिखने की कला का आविष्कार न हुआ था। ऐसी परिस्थिति में इन विभिन्नताओं का होना किसी प्रकार आश्चर्यजनक मालूम न होगा। इससे यह भी पता चलता है कि प्राचीन भारत में ब्राह्मणों का इतना आदर और मान क्यों किया जाता था। ब्राह्मण वे व्यक्ति थे जिन्हें उस समय के पुस्तकालय मस्तिष्क के अन्दर उठाने पड़ते थे, बल्कि ज्ञान का यह कोश दूसरों के सुपुर्द करने के लिए उन्हें योग्य शिष्य ढूँढ़ने पड़ते थे। बड़े आश्चर्य की बात है कि उन्होंने किस प्रकार वेदों, उपवेदों, वेदाङ्गों, उपनिषदों, शास्त्रों आदि को केवल मस्तिष्क और भाषा के द्वारा हज़ारों वर्षों तक क़ायम रक्खा।

भाषा का महत्त्व

एक दृष्टि से भाषा लोहे के उस सन्दूक़ के समान है जिसमें सारे साहित्य के कोश जमा हों। भारत के आर्यों ने अपनी भाषा और धार्मिक रीतियों को पुरानी दुनिया, मिस्र आदि, में फैलाया। बौद्ध मत के उत्कर्ष-काल में उनका दर्शन बरमा, चीन आदि देशों में फैला। मुस्लिम उत्कर्ष के समय अरबों ने हिन्दुस्तान से ज्ञान-सम्बन्धी लाभ उठाया। हारूँ-उल्रशीद और उसके बेटे के ख़िलाफ़त-काल में बग़दाद के व्यापारी भारत में व्यापार के उद्देश से आते और यहाँ की पुस्तकों की नक़लें भेंट के रूप में अपने देश को ले जाते। दर्शन, ज्योतिष, वैद्यक, बीजगणित* आदि विषयों की सैकड़ों पुस्तकें वहाँ पहुँचीं। आयुर्वेद का अरबी भाषा में अनुवाद किया गया। अरब लोगों ने इन सभी विद्याओं को स्पेन में उस समय विश्वविद्यालय स्थापित करके फैलाया जब कि शेष समस्त योरप

* बीजगणित = Algebra (अल्जेबरा)।

अभी अन्धकार में था। विचित्र यह बात है कि यूनानी दर्शन भी योरप में अरबी भाषा के द्वारा फैला।

भाषा केवल सभ्यता के कोश का सन्दूक़ ही नहीं है। यह राष्ट्रीयता की वह बड़ी पुस्तक है जिसमें राष्ट्र या जाति का इतिहास लिखा हुआ मिलता है। यह बात वैदिक संस्कृत के तुलनात्मक अध्ययन से मालूम हुई कि योरप की जातियाँ भी आर्य नसल से हैं। भारत में जब शक आदि विदेशी लोगों का आना शुरू हुआ तब उनकी भाषा की मिलावट आदि कारणों से प्राकृत भाषा बन गई। बौद्ध मत के उत्कर्ष-काल में इस भाषा का न केवल हिन्दुस्तान बल्कि बरमा आदि में भी पवित्र भाषा का दर्जा हो गया। तब भारत में लोगों के विभिन्न टुकड़े हो गये और प्राकृत बंगाली, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं में विभक्त हो गई। मुस्लिम काल में इन पर फ़ारसी की छाप उसी प्रकार लगी जिस प्रकार भारत पर मुस्लिम राज्य की लगी। आजकल हमारी भाषा अँगरेज़ी से प्रभावित हो रही है।

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि भाषा के बने रहने से राष्ट्रीयता बनी रहती है और उसके विनाश से राष्ट्रीयता विनष्ट हो जाती है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली से प्रभावित होकर आम शिक्षित लोगों का दिमाग़ इस प्रकार का बन गया है कि वे यह समझ नहीं सकते कि भारत के नवयुवकों को अपनी भाषा छोड़कर अन्य भाषा के द्वारा शिक्षा देना प्रकृति-विरुद्ध बात है। हिसाब लगाकर देखने से पता लगता है कि शिक्षा-काल में हमारे बच्चों का आधे से ज़्यादा समय केवल एक विदेशी भाषा सीखने और समझने में व्यय होता है। अपनी भाषा की रक्षा का एक ही तरीक़ा है—सारी शिक्षा और गवर्नमेंट-सम्बन्धी कार्य इसमें हों। तभी हमारी भाषा सजीव बनेगी और उसमें नया साहित्य उत्पन्न होगा। जो लोग अपनी भाषा में पहले उच्च कोटि की पुस्तकें देखना चाहते हैं और बाद में उसे शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते हैं वे घोड़े के आगे बग्घी जोतकर उसे चलाने की कोशिश करना चाहते हैं।

आठवाँ परिच्छेद

सामाजिक विकास

सामाजिक जीवन का क़ानून

भगवद्गीता के अध्याय १८ का श्लोक ६१ कहता है—"स्वयं भगवान् सबके हृदय में बैठकर संसारचक्र को चला रहे हैं।" इस ब्रह्माण्ड को हम केवल संयोग का फल समझें या किसी बड़ी शक्ति की तदबीर का खुलना और बन्द होना ? यह बात हमें साफ़ दिखलाई देती है कि वे समस्त शक्तियाँ, जिनसे राष्ट्रों का इतिहास बनता है, अन्य प्राकृतिक शक्तियों के समान ख़ास क़ानूनों के अधीन चलती हैं। इन क़ानूनों का ज्ञान इतिहास के सम्पूर्ण अध्ययन के लिए आवश्यक है। व्यक्तिगत जीवन और राष्ट्रीय जीवन में बड़ा फ़र्क़ यह है कि एक साधारण सी भूल या घटना व्यक्तिगत जीवन में क्रान्ति उत्पन्न कर सकती है, परन्तु राष्ट्रीय जीवन की लहर किसी ऐसी घटना से कम प्रभावित हुआ करती है। एक मनुष्य ट्राम से गिरकर या पाँव के फिसल जाने से ऐसी चोट खाता है कि वह उसके जीवन पर स्थायी प्रभाव उत्पन्न कर देता है। राष्ट्रीय जीवन ऐसी दुर्घटनाओं से प्रायः मुक्त होता है और उसके क़ानून बग़ैर तबदीली के चलते हैं। इन्हीं क़ानूनों* के आधार पर मानवीय इतिहास को विज्ञान† का पद मिल जाता है। जिस प्रकार इतिहास से निकाले गये परिणाम राजनीति कहलाते हैं उसी प्रकार ये

---

* इतिहास के क़ानून = Laws of History (लाज़ ऑव् हिस्ट्री)।

† विज्ञान = Science (साइंस)।

क़ानून इतिहास-विद्या* का दर्शन† हैं। इन क़ानूनों का अध्ययन करके हम मज़हब के वास्तविक तत्त्व तक पहुँच सकते हैं।

जीवन-संचालन और ख़याल

किसी भी मनुष्य के जीवन को लेकर उसके चरित पर ध्यान करने से विदित होगा कि उसके प्रायः सभी कामों के अन्तस्तल में एक ख़ास ख़याल‡ है जो उसे चलाता है। साधारण सांसारिक लोग केवल आराम से जीवित रहना चाहते हैं। आराम का जीवन व्यतीत करने के विचार से वे तरह-तरह की मिहनत करते और कष्ट उठाते हैं। समझदार आदमी आराम की इस ज़िन्दगी में कुछ अर्थ नहीं देखता। इन लोगों का उद्देश आराम होता है, परन्तु यह आराम ही उनके सिर पर सब कष्ट लाता है। बहुत सोच-विचार न रखनेवाले मनुष्य केवल दो पाशविक भावों के आधार पर अपना जीवन व्यतीत करते हैं—एक जीवन स्थिर रखना और दूसरा नसल बढ़ाना। जब एक मज़दूर दिन में आठ घण्टे मेहनत करके दो रुपये कमाता है तब अपने जीवन के एक दिन को वह दो रुपये के रूप में परिणत कर लेता है। इससे वह अपने परिवार का पोषण करता है। ज़रा आगे चलकर देखने से मालूम होता है कि कई अन्य ख़याल भी हैं जो सांसारिक मनुष्यों के जीवन को चलाते हैं। कहीं पर यह विषय का दासत्व है, कहीं पर धन एकत्र करने की इच्छा और कहीं पर प्रसिद्धि का ख़याल। कंजूस की ज़िन्दगी में यह ख़याल काम करता है कि जिस किसी तरह से हो सके वह रुपये को सभी जगह से खींचकर उस स्थान पर ला रक्खे जिसे वह अपना समझता है। बनियों के बारे में कहावत है—'बनिये की कमाई ब्याह या मकान ने खाई।' अर्थात् वह अपना और दूसरों का पेट काटकर उम्र भर में जो कुछ जमा करता है उसे लड़के-लड़की का ब्याह करने या मकान

---

* इतिहास-विद्या = Knowledge of history (नालेज ऑव् हिस्ट्री)

† दर्शन = Philosophy (of History) फिलासफी ऑव हिस्ट्री।

‡ ख़याल = Idea (आइडिया)।

बनवाने में ख़र्च कर देता है। दूसरे शब्दों में ब्याह या मकान उसके समस्त जीवन को खा जाता है। एक श़ख्स को शराब या व्यभिचार की आदत है। वह अपना आराम, इज़्ज़त वग़ैरह सब कुछ त्यागकर समस्त जीवन को सिर्फ़ उस आदत का शिकार बना देता है। प्रसिद्धि की इच्छा प्रशंसनीय भाव है। परन्तु इसके बदले जीवन तबदील करनेवालों की संख्या बहुत थोड़ी है।

राष्ट्रीय जीवन और ख़याल

जिस प्रकार व्यक्तिगत जीवन के अन्तस्तल में ख़याल काम करता है उसी प्रकार राष्ट्रीय जीवन को भी वही चलाता है। हर राष्ट्र के इतिहास में किसी एक ख़याल का प्रदर्शन और फैलाव दिखलाई देता है। प्राचीन स्पार्टा के लोग शारीरिक सौन्दर्य के ख़याल पर हद से ज़्यादा मुग्ध थे। स्पार्टन माता-पिता को जब कोई बच्चा शारीरिक दृष्टि से निर्बल मालूम देता तो वे उसे पहाड़ की चोटी से गिराकर मार देते। जापान में देश-प्रेम का भाव है। यही उनका मज़हब और यही उनका आचार है। रूस-जापान-युद्ध के समय जापान की कितनी ही कुँआरी लड़कियों ने वेश्या-वृत्ति इसलिए ग्रहण कर ली कि इसके द्वारा धन कमाकर वे उसे अपने देश को भेज सकें। अमरीका में व्यक्तिगत समानता का सिद्धान्त वहाँ के सामाजिक जीवन के अन्तस्तल में पाया जाता है। यहाँ तक कि बेटे बाप का और शिष्य गुरु का कुछ मान नहीं करते। वहाँ शासक और शासित, स्त्री और पुरुष का दर्जा बराबर है।

यह ख़याल चाहे कितना ही ऊँचा क्यों न हो, जब किसी जाति में अकेला ही ज़ोर पकड़ जाता है तब अन्य विचारों के दब जाने से उस जाति के पतन का कारण होता है। राजपूतों के अन्दर मान का ख़याल सर्वोपरि था। मान के मुक़ाबले पर उन्हें व्यक्तिगत या राष्ट्रीय जीवन का भी कोई महत्त्व नज़र न आता था। ऐसे कितने ही उदाहरण मिलते हैं जिनमें राजपूतों ने पहले अपनी रमणियों को क़त्ल किया और फिर तलवारें लेकर स्वयं जान पर खेलते हुए शत्रु पर टूट पड़े।

रीतियाँ, संस्थाएँ और ख़याल

इसी प्रकार के ख़याल के आधार पर जातियों के अन्दर अपनी अपनी संस्थाएँ और रीतियाँ या नैतिक रिवाज बनाये जाते हैं। स्त्री-जाति के दर्जे को लीजिए। कुछ जातियों के अन्दर स्त्री को निम्न समझकर परदे में रखने का रिवाज है। कुछ पश्चिमी जातियों के अन्दर न केवल स्त्रियों बल्कि लड़कियों को भी पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है। यहाँ तक कि माता-पिता की अनुज्ञा के बिना ही लड़कियाँ अपने विवाह का प्रबन्ध कर सकती हैं। इस आयु में न लड़की के अन्दर विचार-शीलता का इतना भाव होता है, न लड़के के अन्दर। प्रायः कामभाव के प्रभुत्व में, जिसे प्रेम का नाम दिया जाता है, सम्बन्ध हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि थोड़ी ही देर बाद सम्बन्ध-विच्छेद या तलाक़ की बारी आ जाती है। जापान में परदा तो कहीं दूर रहा, स्त्री और पुरुषों के एक स्थान में बिलकुल नङ्गे नहाने का रिवाज है। हिन्दुस्तान इससे घबराता है, परन्तु इससे इतना तो सिद्ध होता है कि वहाँ के लोग कामभाव के इतने ग़ुलाम नहीं हैं और स्त्री को नग्न देखकर भी अपनी तबीयत पर क़ाबू रख सकते हैं।

स्याम के छोटे से देश में स्त्री-पुरुष के पहनावे और सिर के बालों में भी कोई विशेष भेद नहीं होता। वहाँ पर स्त्रियों को न केवल राजनीतिक अधिकार वैसे ही दे दिये गये हैं, बल्कि पुरुषों से अधिक शक्ति प्राप्त है। इसका एक कारण यह है कि कुछ समय हुआ वहाँ की स्त्रियों ने अपनी सेना बनाकर बरमा के लोगों के आक्रमण से अपने देश की रक्षा की थी।

हिन्दुओं के अन्दर स्त्री और पुरुष का दर्जा बराबर है। विवाह के पश्चात् पुरुष को पति और स्त्री को पत्नी कहा जाता है। भगवद्गीता में बेटों के नाम माता के नाम पर दिये हैं और विवाह को धर्म समझा गया है (इसलिए यह अधिकता माता-पिता के अधिकार में होती है)। यहाँ तक कि स्त्री-पुरुष के समागम के समय भी वेद-मन्त्रों के द्वारा गर्भाधान करना लिखा है। गर्भाधान संस्कार इसलिए किया जाता है कि जो सन्तान हो, वह कामभाव की विशेषतावाले वीर्य से न हो, बल्कि धर्मभाव-

वाले वीर्य से हो। विवाह को एक पवित्र धर्म समझने का ख़याल था जिससे इस देश में सती की रस्म जारी हुई। इस प्रकार की पवित्र स्त्रियाँ हिन्दुस्तान में ही जन्म लेती रही हैं, जिन्होंने अपने प्रेम को पवित्र एवं मिलावट-रहित रखने के लिए अपने शरीर का बलिदान किया। यहाँ तक ही नहीं, यह भी कहा गया है कि आप्त धर्म के तौर पर स्त्री अपने पति का नाम बनाये रखने के लिए अपनी पवित्रता को भी क़ुरबान कर सकती है।*

समाज की उन्नति का आधार

मत्सीनी† समाज की नींव और उन्नति सङ्गति‡ के सिद्धान्त पर आश्रित समझता है। वेदमन्त्र भी यही कहता है—"हम सब परस्पर मिलकर बैठें, सबके विचार एक से हों, हमारी आशाएँ एक जैसी हों।" हरबर्ट स्पेंसर समाज की नींव सहयोग§ को समझता है। इसे वह दो प्रकार का बतलाता है। एक वह जिसमें व्यक्तिगत लाभ दृष्टिगोचर हो; दूसरा वह जिसमें समाज के सामूहिक लाभ का भाव प्रबल हो। पहली अवस्था में प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक कर्त्तव्य इसलिए मुक़र्रर होते हैं कि उनकी पूर्त्ति से स्वयं उसे तो लाभ पहुँचता है और समाज की उन्नति होती है। दूसरी अवस्था में समाज परस्पर मिलकर उस विशेष कार्य को अपने हाथ में लेता है, जिसकी पूर्त्ति से समाज को बल प्राप्त होता है और व्यक्तियों को व्यक्तिगत लाभ।

दूसरे सिद्धांत का आधार युद्ध है। अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए अन्य क़बीलों या जातियों के साथ संघर्ष और युद्ध ही युद्ध-प्रिय समाज का सिद्धान्त है। योरप के राष्ट्र अभी तक इसी सिद्धान्त के अनुसार बढ़ते और उन्नति करते चले आये हैं। यह स्पष्ट है कि जिन राष्ट्रों में इस प्रकार का सहयोग होगा वे ज़्यादा सामाजिक होंगे, अर्थात उनमें परस्पर

---

* नियोग की ओर संकेत है। †मत्सीनी = Mazsini. ‡संगति = Association (एसोसिएशन)। §सहयोग = Co-operation (कोआपरेशन)।

एक दूसरे के साथ अधिक सहानुभूति होगी। पड़ोसी राष्ट्रों से घृणा और स्वदेशवासियों के प्रति प्रेम, यह योरप की देशभक्ति का मूल मन्त्र है। परन्तु जो राष्ट्र पहली क़िस्म के सहयोग पर समाज को चलायेंगे वे स्वभावतः कम सामाजिक होंगे अर्थात् उनमें पारस्परिक सहानुभूति कम होगी।

हरबर्ट स्पेंसर इससे यह निष्कर्ष भी निकालता है कि जो राष्ट्र या जातियाँ अधिक सामाजिक होती हैं वे उन राष्ट्रों या जातियों पर राज करती हैं जो कम सामाजिक होती हैं। योरप के राष्ट्रों ने जब से सभ्यता के पथ पर पग रक्खा है तबसे उनके अन्दर सहयोग का यही सिद्धान्त काम कर रहा है। इसी कारण वे एशिया की जातियों के मुक़ाबले पर बहुत ज़्यादा सामाजिक हैं।

हिन्दू समाज का आधार—यज्ञ

सम्भव है, आरम्भ में हिन्दुस्तान में आर्यजाति को लड़ाई-भिड़ाई से काम लेना पड़ा हो। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनके समाज का आधार पहले प्रकार का सहयोग रहा। इसमें हर एक सदस्य अपने-अपने धर्म का पालन करने में स्वतन्त्र है (यद्यपि ये धर्म या कर्त्तव्य निश्चित करने में समाज का हित सामने रक्खा गया है।) यही कारण है कि हम हिन्दू जाति के अन्दर आधुनिक देशभक्ति-भाव कम पाते हैं और उनको इसके सीखने में भी लम्बा समय लग रहा मालूम देता है।

हिन्दू-समाज की नींव दूसरों के विरुद्ध संघर्ष पर न खड़ी थी बल्कि एक अन्य बड़े सिद्धान्त पर जिसे वेदों और भगवद्गीता में यज्ञ का नाम दिया गया है। इसका अर्थ ऊँचे के लिए निम्न का बलिदान है। वेद में कहा गया है—"मेरी आयु यज्ञ के अर्पण हो। मेरी आँखें यज्ञ के अर्पण हों। मेरी बुद्धि और मन यज्ञ के अर्पण हों।" अन्यत्र कहा गया है—"यज्ञ ही विष्णु है।" भगवद्गीता के अध्याय ३ के श्लोक १० में यही भाव पाया जाता है—"प्रजापति ने यज्ञ से इस संसार को उत्पन्न किया।" यज्ञ वह कार्य है जिसका करना केवल धर्म के तौर पर आवश्यक हो और जिसमें स्वार्थ का लेश भी न हो। संसार में मनुष्य जो भी काम करता है, किसी न किसी लाभ को

सामने रखकर। दूसरों की भलाई के कार्य भी प्रायः इसलिए किये जाते हैं कि शिक्षा तथा उपदेश आदि से मनुष्यों का स्वभाव ऐसा बन जाता है कि उन्हें दूसरों के भले का काम करने में आनन्द होता है। यज्ञ वह कार्य है जिसमें आनन्द की परवा भी न हो। इसी अध्याय ३ के श्लोक ११, १२ तथा १३ और अध्याय ४ के श्लोक २५ आदि में यज्ञ का स्पष्ट वर्णन किया गया है। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ करना एक आवश्यक कर्त्तव्य बताया गया है। देवता के अन्दर आचार्य, माता और पिता भी सम्मिलित हैं।

यज्ञ क्या है?

'यज्ञ' शब्द भी संस्कृत के कई अन्य शब्दों की तरह पहले सामूहिक अर्थ में प्रयुक्त होता था। एक समय के पश्चात् इसका प्रयोग सीमित होकर विशेष अर्थ में होने लगा। यज्ञ यज् धातु से निकला है। यज् के अर्थ देव-पूजा, दान और संगति हैं। इसी आधार पर प्राचीन आर्यों के समाज में हर एक मनुष्य के लिए पाँच बड़े दैनिक कर्त्तव्य बनाये गये हैं, जिनको पंच महायज्ञ कहा जाता है— ब्रह्म-यज्ञ अर्थात् आत्मिक उन्नति के लिए स्वाध्याय, देव-यज्ञ अर्थात् हवा की शुद्धि के लिए अग्निहोत्र या होम, पितृ-यज्ञ अर्थात् बड़ों की सेवा, अतिथि-यज्ञ अर्थात् घर आये का मान और बलिवैश्वदेव-यज्ञ अर्थात् पशु-पक्षियों को कुछ न कुछ खिलाना।

इन यज्ञों में दान और संगति के अतिरिक्त देव-पूजा बड़ा आवश्यक कर्तव्य है। इसलिए देव किसे कहते हैं, इस पर थोड़ा विचार करना लाभप्रद होगा। देव-शब्द दिव् धातु से निकला है जिसके कई अर्थ हैं— ज्योति, विजय, व्यवहार, स्तुति, मद, कान्ति, विचार, आनन्द, क्रीड़ा आदि। इस प्रकार यज्ञ का अर्थ मनुष्यों की संगति के अतिरिक्त प्रकाश का विस्तार, पापियों पर विजय, आपस में अच्छा बरताव, प्रशंसनीय कार्य करना, स्वाभिमान की रक्षा, ज्ञान, उपकार आदि हैं। आर्य-भाषा— संस्कृत—में यज्ञ सबसे मीठा और प्रिय शब्द है। यज्ञ का एक बड़ा सुन्दर उदाहरण महाभारत में पाया जाता है। जब पाण्डवों ने युद्ध में विजय

लाभ करके अश्वमेध यज्ञ रचा, तब जीव-जन्तु आदि सभी प्राणियों को यज्ञ का अवशेष—पवित्र भोजन—खिलाया गया। उस समय एक नेवला यज्ञ की वेदी पर आया। वहाँ सब ऋषि और पंडित बैठे थे। नेवले का आधा शरीर सोने का था। वह वेदी पर इधर-उधर लेटा। ऐसा करने के बाद उसने कहा—"यह यज्ञ किसी काम का नहीं हुआ।" सभी ने आश्चर्य से पूछा—"क्यों? तुम कैसे ऐसा कहते हो?" नेवले ने उत्तर दिया—"एक समय बहुत भयानक दुर्भिक्ष पड़ा था। कई दिन तक लोगों को खाना न मिला। जंगल में, एक कुटिया में, एक ब्राह्मण, उसकी पत्नी, बेटा और बहू रहते थे। चार दिन तक भूखे रहने के पश्चात् वह ब्राह्मण कहीं से कुछ जौ ले लाया। लड़के की माँ ने उससे चार रोटियाँ बनाईं। वे खाने के लिए बैठे ही थे कि द्वार पर किसी भूखे की आवाज़ आई—'अरे, मैं कई दिन से भूखा मर रहा हूँ।' ब्राह्मण उसे कुटिया के अन्दर ले आया और अपने हिस्से की रोटी उसके सामने रख दी। परन्तु इससे उसकी तृप्ति न हुई। एक एक कर सब ने अपनी-अपनी रोटी उसके अर्पण कर दी। वह तो खाकर चलता बना, परंतु अगले दिन उस कुटिया में चार मुर्दे पाये गये। मैं वहाँ जा पहुँचा। जौ के आटे के कुछ कण मेरे शरीर के एक तरफ़ लग गये। बस, उसी समय यह आधा भाग सोने का हो गया। इस यज्ञ में मैं यह देखने आया था कि यहाँ पर मेरा बाक़ी आधा शरीर भी वैसा ही स्वर्णमय बनता है या नहीं। परन्तु इस यज्ञ का मुझ पर कोई प्रभाव दिखलाई नहीं देता।"

राज्य का आरम्भ

फ़्रांस की प्रसिद्ध क्रान्ति से कुछ समय पहले रूसो* ने फ़्रांसीसी भाषा में एक छोटी सी पुस्तक "सामाजिक मुआहिदा" लिखी। इसमें बतलाया गया—"आदमी प्राकृतिक अवस्था में बहुत प्रसन्न था। तब मनुष्य स्वतन्त्र

---

* रूसो = Rousseau.

और बराबर थे। वर्तमान समाज की अवस्था में आकर आदमी बहुत गिर गया है।" यह ख़याल बिलकुल नया था। अमीर लोग इस प्रस्ताव की दिल्लगी उड़ाते थे। कारलाइल ने उसी समय भविष्यवाणी के रूप में कहा—"जो लोग इस नये विचार पर हँसते हैं, उनके पेतों के शरीर के चमड़े इस पुस्तक की जिल्दें बाँधने के काम आयेंगे।" यह भविष्यवाणी क्रान्ति के समय ठीक सिद्ध हुई।

इँग्लेंड के प्रसिद्ध विद्वान् लॉक* और हाब्स† दोनों समाज को राजा और प्रजा के पारस्परिक मुआहिदे पर आश्रित मानते हैं। इनमें थोड़ा सा ही अन्तर है। हाब्स कहता है—जब एक बार प्रजा ने समस्त अधिकार राजा के हाथ में दे दिये, तब वे उन्हें वापस नहीं ले सकते। इस कारण राजा का पद एकतन्त्र शासक का है। इसके मुक़ाबले पर लॉक का मत है कि प्रजा ने सिर्फ़ इक़रार किया है।

राज्य और महाभारत

महाभारत का शान्ति-पर्व राजनीति, युद्ध तथा शान्ति और राजशासन‡ के विषयों पर उच्च कोटि का व्याख्यान है। पुराना होने पर भी वह वर्तमान काल में भी वैसा ही शिक्षाप्रद है। उसमें भी राज्य के आरम्भ के बारे में विचार किया गया है। वहाँ बताया गया है कि प्रारम्भिक काल, सत्ययुग, में मनुष्य सीधे-सादे और प्रायः शुद्ध आचार के थे। तब न कोई चोरी करता था, न झूठ बोलता था और न किसी को दुःख देता था। तब न दण्ड की आवश्यकता थी, न क़ानून की। जब प्रजा बहुत बढ़ी तब लोगों के अन्दर झूठ, चोरी आदि पाप शुरू हुए। इनसे तंग आकर कुछ लोग प्रजापति के पास गये। प्रजापति ने कहा—"तुम सब मिलकर अपने में से एक को राजा बनाओ जो सबकी रक्षा करे। इसके बदले में तुम लोग अपनी उपज का दसवाँ और सम्पत्ति, अर्थात् बैलों आदि, का चौथा हिस्सा उसकी भेंट करो।" इसके अनुसार मनु पहला राजा बनाया गया। उसने

* लॉक = Lock. † हाब्स = Hobbes.
‡ राजशासन = Government (गवर्नमेंट)।

विभिन्न क़ानून आदि बनाये। आगे चलकर महाभारत में यह भी बताया गया है कि राजा को हटा देना भी प्रजा के हाथ में है। जब कोई राजा प्रजा की रक्षा करने की योग्यता न रखता हो तब उसे बाँझ स्त्री या दूध न देनेवाली गौ समझकर एक तरफ़ हटा देना चाहिए। ज़रूरत के वक़्त किसी मनुष्य को भी, चाहे वह शूद्र ही क्यों न हो, राजा बनाया जा सकता है। उसी प्रकार जिस तरह नाव के डूबने के समय जो कोई भी नाव को बचा सके, उसे ही नायक बना देना चाहिए। महाभारत में राज्य का काम चलाने के वास्ते दो सभाएँ बनाने का उल्लेख है। इनमें चारों वर्णों के प्रतिनिधि चुने जाने चाहिएँ। आन्तरिक सभा—अर्थात् मन्त्रि-सभा—में चार ब्राह्मण, तीन क्षत्रिय, दो वैश्य और एक शूद्र होना चाहिए। दूसरी बड़ी सभा में चार ब्राह्मण, दस क्षत्रिय, बीस वैश्य और दस शूद्र हों।

उन्नति और अवनति

ब्रह्माण्ड के चलने का निराला ढंग है। इसमें किसी चीज़ को, चाहे वह कितनी ही उत्तम क्यों न हो, सदा के लिए स्थिरता प्राप्त नहीं। सर्वोत्तम सिद्धान्तों के अन्दर ही उनके विनाश का बीज विद्यमान होता है। राष्ट्र उन्नति करते हैं। उनकी शक्ति बढ़ती है। शक्ति बढ़ने पर घमण्ड हो जाता है। घमण्ड के कारण वे अन्धे हो जाते हैं और अपने दोषों को देख नहीं सकते।

जिस धन-दौलत की वृद्धि पर हमें इतना गर्व होता है, उसके अन्दर ही विषयासक्ति और विलासप्रियता का बीज होता है; उसी प्रकार जिस तरह विद्यार्थी के परिश्रम के अन्दर उसके भावी सुख का बीज होता है। धन-जमा करने से भोग-विलास बढ़ता है। विषयासक्ति का भाव बुद्धि पर परदा डाल देता है। इस प्रकार मदान्ध राष्ट्र दूसरों के साथ न्याय या अन्याय की परवा नहीं करते। प्राचीन काल में जिन लोगों ने जातीय अभिमान के वश में होकर बड़े-बड़े साम्राज्य बनाये, वे एक दिन ऐसे गिरे कि उनके ग़ुलामों का उन पर प्रभुत्व हो गया। उन्होंने सबको अपने अन्दर जज़्ब करने का प्रयत्न किया। चाहे वे पचा सकें या

नहीं, उन्होंने इस सिद्धान्त को बिलकुल भुला दिया कि ग़ुलाम का मालिक भी वैसे ही ज़ञ्जीरों में क़ैद होता है जैसे ग़ुलाम; क्योंकि मालिक को सदा ग़ुलाम की फ़िक्र रहती है। यह कहा जा सकता है कि पिछले लोगों के पतन के कारण समझने से हम अपने आपको गिरने से बचा लेंगे। परन्तु उन क़ानूनों की प्रक्रिया को हम सदा के लिए नहीं रोक सकते। प्राकृतिक नियम अटल हैं। शराब पीने से नशा होता है। ऐसे ही दूसरों पर प्रभुत्व प्राप्त करने से मद या घमण्ड उत्पन्न होता है।

भगवद्गीता के अध्याय ७ के श्लोक ३० में कहा गया है—"ज्ञानी मुझको ही अधिदैव, अधिभूत और अधियज्ञ जानते हैं। मैं ही समस्त संसार को उत्पन्न करता हूँ; मैं ही उसे चलाता हूँ और उसका नाश भी करता हूँ। मैं ही साम्राज्यों को बनाता और बिगाड़ता हूँ। ये मेरे नाटक के दृश्य हैं। यह काल-चक्र अनादि काल से इसी प्रकार चला आता है।

भगवद्गीता का ग्यारहवाँ अध्याय सबसे बढ़कर सुन्दर दृश्य पेश करता है। इसमें ब्रह्म के विराट् स्वरूप अर्थात् सृष्टि की स्थिति और विनाश के दृश्यों का ऐसे शब्दों में वर्णन किया गया है जो मानवी क़लम का काम नहीं। कहा गया है—"मैं सबसे बड़ा काल हूँ जो सबका नाश करता है। देखो, ये सारे योधा किस तरह मेरी दाढ़ों के नीचे आकर पिस रहे हैं। अर्जुन, तुम केवल निमित्तमात्र हो। यह चक्र तो स्वयमेव मेरी शक्ति से चल रहा है।" कवित्व की उड़ान और सौन्दर्य इससे आगे नहीं जा सकते। इसी कारण अर्जुन अन्त में, अध्याय १८ के श्लोक ७७ में, कहता है—"हे हरि, मैं उस अद्भुत स्वरूप को बार-बार याद कर प्रसन्न होता हूँ।" यहाँ पहुँचकर इतिहास दर्शन और दर्शन इतिहास में परिणत हो जाता है—दोनों एकरूप हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों हमारे अन्दर ब्रह्म का चित्र वास्तविकता के निकट पहुँचता है, हमारा दर्शन वास्तविक अस्तित्व और उसके प्रदर्शन को, वस्तु और उसकी छाया को, एक ही समझने लगता है।

——

नवाँ परिच्छेद

देवासुर-संग्राम

प्राकृतिक निर्वाचन

डारविन ने जहाँ विकास का निरूपण किया है, वहाँ उसकी प्रक्रिया को एक ख़ास क़ानून में लाना आवश्यक समझा है। विकास योग्यतम अवशेष* के क़ानून पर चलता है। वनस्पतियों और जानवरों में, परस्पर और एक दूसरे के विरुद्ध, एक संघर्ष चल रहा है जिसका उद्देश हर एक का अपने आपको बचाने की कोशिश करना है। इस बात की परवा न करके कि दूसरे इससे मरते हैं या जीते, इस संघर्ष में जो प्राणी बाह्य परिस्थिति के अधिक अनुकूल होगा वह बच जायगा, शेष मारे जायँगे। दूसरे शब्दों में, स्वयं प्रकृति योग्यतम का निर्वाचन करती है और वही वनस्पतियों और जानवरों में उन्नति करता है। जैसा कि पहले भी कहा गया है, योग्य का अर्थ यह नहीं है कि वह निश्चय ही सबसे अच्छा हो। वास्तव में देखा जाय तो वनस्पति और पशु जगत् में अच्छा शब्द का अर्थ सिवा इसके कुछ नहीं है कि उसे बाह्य परिस्थिति अधिक पसन्द करती है।

बाह्य परिस्थिति में मनुष्य का बड़ा भाग है। परन्तु जब हम मानव-सृष्टि में आते हैं तब योग्य का अर्थ भी उन्नति करने लगता है। यहाँ पर जीवित रहने के लिए मनुष्य को बाह्य परिस्थिति के अनुकूल बनाना ही पर्याप्त नहीं है। उसे अपने परिवार को भी योग्य बनाना चाहिए, नहीं तो अन्य योग्य परिवार के मुक़ाबले वह अकेला जीवित न रह सकेगा।

---

* योग्यतम अवशेष = Servival of the fittest (सर्वाइवल ऑव् दि फ़िट्टेस्ट)।

परिवार के जीवित रहने के लिए यह ज़रूरी है कि वह अपने क़बीले को भी बलवान् बनाये और क़बीले के वास्ते अन्य जातियों या राष्ट्रों के मुक़ाबले ज़िन्दा रहने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी उस जाति या राष्ट्र को योग्य बनाये, जिसमें कई क़बीले सम्मिलित हैं, नहीं तो किसी भी योग्य जाति या राष्ट्र के मुक़ाबले वह क़बीला मारा जायगा। राष्ट्रों या जातियों की अवस्था में सबसे अधिक वह फैलेगी जो प्रकृति के क़ानूनों को मालूम करके प्राकृतिक शक्तियों पर अपना अधिकार जमा लेगी और साथ ही प्रकृति की उत्पन्न की हुई बीमारियों से अपने आपको बचा सकेगी। मनुष्य के सम्बन्ध में यह कहना अधिक यथार्थ है कि दूसरों के मुक़ाबले वह मनुष्य जीवित रहेगा जिसके राष्ट्र, क़बीले और परिवार में दूसरों की अपेक्षा अधिक योग्यता पाई जाती है। अब मनुष्य का आदर्श व्यक्तिगत नहीं रहता, बल्कि राष्ट्रीय हो जाता है।

डारविन का अन्वेषण

डारविन ने वनस्पतियों के असंख्य उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि विभिन्न प्रकार की घास खेत में परस्पर संघर्ष करती हैं। खेत में पहले एक घास होती है। थोड़े समय के पश्चात् दूसरी बढ़ना शुरू करती है। यदि दूसरी अधिक बलवान् होती है तो वह पहली के लिए बढ़ने की कोई जगह नहीं छोड़ती। यही हाल वृक्षों का है। किसी बड़े वृक्ष के निकट छोटे पौधे बढ़ नहीं सकते; क्योंकि वहाँ की भूमि से सारी ख़ूराक बड़ा वृक्ष अपने लिए खींच लेता है। अब जानवरों को लीजिए। मछलियों में बड़ी अपने से छोटी पर निर्वाह करती है। जंगल के पशुओं का भी यही हाल है। बलवान् जानवर निर्बल को मारकर खा जाता है। कीड़े-मकोड़े पक्षियों के भोजन हैं। प्रायः वही कीड़े बचकर बढ़ते हैं जिनका रंग दरख़्तों के पत्तों या फूलों के समान होता है। इस तरह वे आसानी से छिप सकते हैं। हिरनों की वह जाति बढ़ती है जो ज़्यादा तेज़ दौड़ने से अपने को बचा सकती है। धीरे दौड़नेवाले हिरन आसानी से शत्रु का शिकार हो जाते हैं। अन्य प्राणियों के अतिरिक्त प्रकृति का भी बाह्य

परिस्थिति में बड़ा हाथ होता है। जहाँ बहुत सख़्त सर्दी पड़ती है, वहाँ वही जानवर अपनी नसल फैला सकते हैं, जिनके शरीर पर बाल अधिक हों। गरम और रेतीले स्थान में ऊँट की वृद्धि का अवसर होता है; क्योंकि वह कई दिन तक पानी के बिना गुज़ारा कर सकता है।

हरबर्ट स्पेंसर और निर्वाचन का क़ानून

हरबर्ट स्पेंसर का मत है कि समाज के अन्दर विभिन्न सदस्यों के बीच, जाति या राष्ट्र के अन्दर उसके विभिन्न हिस्सों के बीच और संसार में विभिन्न राष्ट्रों या जातियों के बीच जीवित रहने के लिए संघर्ष पाया जाता है। योरप में समाज की विभिन्न श्रेणियों के अन्दर यह संघर्ष प्राचीन काल से चला आता है। रोम के इतिहास में इसका प्रमाण ग़रीबों और अमीरों की कशमकश में मिलता है। इस सम्बन्ध में एक कथा बहुत प्रसिद्ध है। रोम के निर्धन पेशेवाले लोग शहर को छोड़ एक पहाड़ी पर जाकर आबाद हुए। उनकी शिकायत थी कि कमाते तो हम हैं, परन्तु भोग-विलास धनी करते हैं। एक वृद्ध ने उनके पास जाकर उन्हें पेट और पाँव का उदाहरण यों बताया—"एक बार हाथों और पैरों ने काम करना छोड़ दिया। इस कारण कि काम करने का कष्ट तो वे उठाते हैं, परन्तु खाने के वक्त सब कुछ पेट हड़प कर जाता है। हाथ-पाँव ने काम करना छोड़ दिया और पेट में कुछ न गया। अब हाथ-पाँव भी सूखने लगे। ऐसी ही दशा तुम्हारी होगी।" इस उदाहरण से प्रभावित होकर वे सब पेशेवाले वापस शहर में आ गये।

योरप में यह संघर्ष ख़ास ढङ्ग पर चलता है। पहले-पहल समाज पर चर्च का प्रभुत्व था। यहाँ तक कि बादशाह भी पोप और उसके पादरियों से काँपते थे। सुधार* के आन्दोलन के पश्चात् सारा अधिकार चर्च के हाथ से निकलकर बादशाहों और उनके सरदारों के हाथ में चला गया। तत्पश्चात् फ्रांस की क्रान्ति ने एक और परिवर्तन उत्पन्न कर दिया जिससे

---

* सुधार = Reformation (रिफ़ार्मेशन)।

यह शक्ति जनसाधारण के हाथों में चली गई। तब योरप में बादशाहों का कोई महत्त्व न रहा। गत अर्ध शताब्दी में मज़दूर लोग, जो योरप के शूद्र समझे जाने चाहिएँ, जाग उठे। योरप का भावी संघर्ष इन्हीं लोगों का होगा। इन्हीं का भविष्य उज्ज्वल दिखलाई देता है।

देवासुर-संग्राम

मानव-जगत् में इस संघर्ष का उल्लेख करते हुए भगवद्गीता के अध्याय १६ में इसे दैवी और आसुरी प्रकृतियों के दर्मियान कशमकश का रूप प्रकट किया गया है। इन दोनों प्रकृतियों का संग्राम सदा चलता रहता है। श्लोक ६ में बताया गया है—"आसुरी प्रकृति के लोग मनुष्य-जाति के शत्रु होते हैं। उनकी अपवित्रता, चालाकी और दम्भ संसार में विनाश लाते हैं।" दैवी प्रकृतिवाले संसार का भला करते हैं। निर्भयता, शौच, सत्य आदि उनके गुण होते हैं। पशु-जगत् में तो यह मामला बिलकुल ही साफ़ है। भेड़ और भेड़िये से पूछिए—"कौन सी बात अच्छी है—निर्बल की रक्षा करना या उसे खा जाना?" भेड़ तो यह कहेगी—"निर्बल की रक्षा करना धर्म है।" भेड़िया इसके ठीक उल्टा कहेगा। मनुष्य की अवस्था में ये दोनों परस्परविरोधी प्रकृतियाँ हैं। मनुष्य भी प्रायः दो प्रकार के हैं। कुछ ऐसे हैं जो बीज के समान अपने आपको विनष्ट करके बड़े फलदार वृक्ष पैदा करते हैं। बहुत से ऐसे हैं जो दूसरों का नुक़सान करके ख़ुश होते हैं। इन दोनों प्रकृतियों का संघर्ष संसार में सदा जारी रहता है। मनुष्य के अन्दर भी हर समय दोनों प्रकार के भावों का द्वन्द्व-युद्ध होता रहता है। कभी देवभाव की तो कभी आसुर भाव की जीत होती है। क्षण-क्षण की इस विजय या पराजय के अनुसार मनुष्य ऊपर उठता या नीचे गिरता है।

देवताओं और असुरों का युद्ध

पुराणों के अन्दर रूपक के तौर पर देवताओं और दैत्यों के बीच युद्ध का उल्लेख अक्सर पाया जाता है। उपनिषद् में देवता का अर्थ इन्द्रियाँ और असुर का अर्थ विषय किया गया है। ये प्रतिक्षण आपस में लड़ाई

करते हैं। यदि और आगे देखा जाय तो मालूम होता है कि संसार में दैवी और आसुरी गुणों का युद्ध हमेशा ही चलता रहता है। एक लड़की जब लाखों रुपयों पर लात मारकर अपनी पवित्रता की रक्षा करती है तब उसमें दैवी गुण की विजय होती है। यदि वह अपनी पवित्रता की रक्षा में प्राण दे देती है तब भी दैवी गुण की जीत होती है। परन्तु इस विजय-प्राप्ति से पूर्व दोनों प्रकार के गुणों का बड़ा भारी युद्ध होता है।

मनुष्य का शरीर तो मरने के लिए बना है; केवल विचार या ख़याल* जीवित रहता है। इन विचारों से वह देवलोक या इन्द्र-लोक बनता है जहाँ पितृगण या मृत पूर्वज रहते हैं। भगवद्गीता के पहले अध्याय के श्लोक ४२ में जिस पिंड आदि का उल्लेख है, उससे पूर्वजों की स्मृति क़ायम रखना अभीष्ट है। दुनिया में अन्धकार और प्रकाश का, सफ़ाई और गन्दगी का, धर्म और अधर्म का युद्ध सदा से ही जारी है। महाभारत का युद्ध दुर्योधन के विरुद्ध न था, बल्कि रावण और कंस के विरुद्ध युद्ध की तरह दैत्यगुण के विरुद्ध था। सिख जब मुग़ल-सेना से युद्ध करते थे तब उनके अन्दर गुरु तेग़बहादुर के हैातात्म्य या शहादत का भाव जोश भारता रहता था।

नये विचार के विरुद्ध युद्ध

एक महापुरुष जब संसार में कोई नया विचार पैदा करता है, तो वह उस समय तात्कालिक सभी शक्तियों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करता है। यह विचार राजनीतिक स्वतन्त्रता का भी हो सकता है और मज़हबी स्वतन्त्रता का भी। एक मनुष्य अपने व्यक्तित्व के आधार पर एक नया मज़हब चलाता है। उसका विचार लाखों-करोड़ों मनुष्यों के दिमाग़ पर अधिकार जमाकर उन्हें अपना माध्यम बना लेता है। ऐसे ही विचारों ने संसार को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। ख़याल या विचार के सामने एक क्या, लाखों मनुष्यों के जीवन का कोई महत्त्व नहीं होता। एक मज़हबी ख़याल के प्रभुत्व के कारण कितने युद्ध हुए, कितने निर्दोष मारे गये, बेचारे

---

* विचार या ख़याल = Idea (आइडिया)।

मनुष्य पर क्या-क्या मुसीबतें आईं। अपने अन्दर गन्दगी जमा करके मनुष्य प्लेग या ताऊन जैसी बुराई बीमारी का बीज पैदा कर देता है जो नगर या प्रान्त में तबाही मचा देता है। बुरा ख़याल या कुत्सित विचार भी ऐसा ही होता है। ईसा ने एक ग़ुलाम क़ौम में जन्म लिया; उनकी शिक्षा भ्रातृत्व और भ्रातृ-प्रेम के भावों से भरी थी। शक्ति-सम्पन्न लोगों ने इन भावों को दबाना चाहा। परन्तु ईसा सफल हुए।

ईसा से पहले एक मनुष्य ने सामाजिक अन्याय के विरुद्ध अपना बलिदान कर दिया। रोम में दो ग़ुलामों को लड़ाकर तमाशा देखने का बड़ा शौक़ था। इन ग़ुलामों का ख़ून देखकर हज़ारों दर्शक ख़ुश होते थे। एक बार यह तमाशा होने लगा। दोनों ओर से तलवारें चमक रही थीं कि अचानक एक वृद्ध दोनों के बीच में आकर खड़ा हो गया। बुड्ढा लहूलुहान होकर भूमि पर गिर पड़ा। परिणाम-स्वरूप यह तमाशा सदा के लिए बन्द हो गया। यह आदमी शायद आरकेमेडीज़ था या आरटेमेडीज़। कुछ भी हो, इतनी बड़ी आसुरी शक्ति के विरुद्ध दैवी गुण ने चुपके से युद्ध किया और विजय प्राप्त की।

इन प्रकृतियों के अन्तस्तल में

आसुरी प्रकृति के अन्तस्तल में आत्म-प्रियता या ख़ुद-पसन्दी का भाव काम करता है और दैवी प्रकृति के अन्तस्तल में आत्म-विस्मृति या बेख़ुदी का। आत्म-प्रियता का वर्णन भगवद्गीता के अध्याय १६ के श्लोक १३, १८, १६, २० और २१ में पाया जाता है। आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य का ख़याल होता है कि जिस वस्तु का सम्बन्ध उसके अस्तित्व से है वह सबसे अच्छी है; किसी अन्य वस्तु का उससे अच्छा होना सम्भव ही नहीं। वह जिस मज़हब को अपना मान लेता है, उसके लिए उसके दिल में ऐसी धर्मान्धता उत्पन्न हो जाती है कि वह दूसरों को दुनिया से मिटा देना चाहता है। जिस देश में उसका जन्म होता है उसके लिए वह समस्त संसार को नष्ट करने पर तैयार हो जाता है। अपनी इच्छा के मुक़ाबले पर वह किसी दूसरे की इच्छा की परवा ही नहीं करता।

सभी चीज़ों का मालिक होता था, तथापि किसी चीज़ पर उसका अधिकार नहीं होता। एक ब्राह्मण जब नंगे सिर और नंगे पाँव राजा के दरबार में जाता तब उसके तप के बल के कारण राजा भी खड़ा हो जाता।

भगवद्गीता के अध्याय ३ के श्लोक १४ और १५ में कहा गया है—"संसार एक यज्ञ है जिसमें हर एक चीज़ दूसरे के सहारे पर चलती है। सब प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न बादलों से और बादल सूर्य की किरणों से।" सूर्य सबसे अधिक यज्ञ-रूप है। उसकी किरणें समुद्र से भाप लेकर न केवल बादल बनाती हैं, बल्कि पौधों और मनुष्यों को जीवन भी देती हैं। यह यज्ञ ब्रह्म है। जो मनुष्य इस चक्र को आगे नहीं ले जाता, वह निष्फल ही जीता है। ब्राह्मण होना ही संसार को आगे ले जाने के लिए यज्ञ है।

नीट्शे और मनु में भेद

दार्शनिक और ऋषि के तरीक़े में एक अन्तर है। नीट्शे उस नसल को उत्पन्न करने के लिए युद्ध को बड़ा पवित्र माध्यम समझता है। युद्ध के द्वारा अपने उत्कर्ष और शक्ति-वृद्धि के लिए वह युद्ध के प्राचीन देवता—वोडन*—की पूजा करता है। ईसाइयों के ख़ुदा की अपेक्षा वह वोडन को बहुत बलशाली मानता है। ऋषि मनु तो देव-गुणों को विकसित करके सच्चे ब्राह्मणों के द्वारा देव-योनि उत्पन्न करना चाहते हैं, परन्तु दार्शनिक नीट्शे इसका तरीक़ा निम्न राष्ट्रों और श्रेणियों को दबाना तथा नष्ट करना समझता है। भगवद्गीता भी आसुरी भावों का विनाश करना बतलाती है। वह कहती है कि मनुष्यों से कोई द्वेष न होना चाहिए। जब देव-गुण संसार में उन्नति करेंगे तब निम्न गुण स्वयमेव मिट जायँगे।

गीता में क्षत्रिय के लिए युद्ध आवश्यक बतलाया है; केवल उस समय जब निर्बल की रक्षा करनी हो या किसी अन्याय को दूर करना हो। अध्याय १५ के श्लोक ४३ में क्षत्रिय के गुण वीरता, निर्भयता, साहस, युद्ध-कौशल और दान कहे गये हैं। क्षत्रिय डरकर भाग जाने से पाप का भागी होता है।

———

* वोडन = Woden।

दसवाँ परिच्छेद

राजयोग

सुख की खोज

प्राणी मनुष्य-जन्म पाकर, कस्तूरीवाले हिरन की भाँति, आत्मा की सुगन्ध सी अनुभव करता है और जानते या न जानते हुए उसकी खोज में भटकता फिरता है। हिरन कस्तूरी की ख़ुशबू को झाड़ियों में ढूँढ़ता है और प्राणी आत्मा की सुगन्ध को इन्द्रियों के विषयों में।

एक जगह प्रश्न उठाया है—जीव का स्वाभाविक स्वरूप सुख है या दुःख? जीवन के लक्षण में दुःख और सुख, दोनों, पाये जाते हैं।

दुःख का कारण—अविद्या या अज्ञान

आर्य और बौद्ध दर्शन इसी एक बात की कल्पना करके शुरू होते हैं कि जीव सुख की खोज में लगा हुआ है परन्तु संसार में सबको दुःख ही दिखलाई देता है। इसका कारण ढूँढ़ते हुए सभी दर्शनकार एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। योग-दर्शन तो वह कारण अविद्या बतलाता है। वेदान्त उसे माया और सांख्य अविवेक कहता है। इस अविद्या या माया का कारण तृष्णा या विषय-वासना है जिसमें जकड़ा हुआ मनुष्य भूला फिरता है।

भगवद्गीता क्या कहती है?

भगवद्गीता के अध्याय ३ के श्लोक ३७, ३८, ३९ आदि में कहा गया है कि जिस प्रकार धूँआँ आग को और धूल शीशे को ढाँप देते हैं उसी प्रकार यह तृष्णा आत्मा को ढाँपकर उसे अज्ञान में डाल देती है। इन्द्रियों, मन और बुद्धि में बैठी हुई यह तृष्णा आत्मा पर परदा डाल देती

है। अपनी इन्द्रियों को क़ाबू में लाकर मनुष्य को पहले इसका नाश करना चाहिए। श्लोक ४३ में कहा गया है—"इस प्रकार आत्मा को, और उसकी सहायता से इन्द्रियों को, रोककर इस शत्रु (तृष्णा) को वश में करना चाहिए।"

दूसरे अध्याय के श्लोक ६०, ६१, ६२, ६३, ६७ और ६८ में बताया गया है—"ज्ञानी के मन को भी इन्द्रियाँ पकड़ लेती हैं। इनको वश में लाने से ही मनुष्य ध्यान कर सकता है। विषयों का चिन्तन करने से मनुष्य उनकी तरफ़ खिँच जाता है। इससे तृष्णा उत्पन्न होती है, तृष्णा से क्रोध, क्रोध से बुद्धि का विनाश। बुद्धि न रहने से मनुष्य किसी काम का नहीं रहता। विषयी आदमी का मन वैसे ही डाँवाडोल होता है जैसे तूफ़ान के अन्दर जहाज़। इसलिए महाबाहु अर्जुन, तू इन इन्द्रियों को विषयों से हटाकर अपने क़ाबू में ला।"

महाभारत का दृष्टान्त

महाभारत के स्त्रीपर्व में विदुर ने धृतराष्ट्र से कहा है—दुनिया एक बियाबान है। जीवन उसमें एक जङ्गल के समान है। बीमारियाँ इस जङ्गल में शेर, चीते, भेड़िये आदि हैं। बुढ़ापा मनुष्य के गले से चुड़ैल की तरह लटक रहा है। इनसे बचने के लिए मनुष्य भागता हुआ एक गहरी कन्दरा के किनारे, अर्थात् शरीर में, आ गिरता है। इस कन्दरा में वह सिर नीचे करके लटक जाता है। कन्दरा के किनारे पर बहुत-सी झाड़ियाँ उगी हुई हैं (ये झाड़ियाँ विषय हैं)। पास छः मुँह (अर्थात् छः ऋतु) और बारह टाँगों (अर्थात् बारह मास) वाला एक हाथी (अर्थात् वर्ष) मनुष्य को मारने के लिए खड़ा है। जिस शाखा के सहारे मनुष्य लटक रहा है उसे दो चूहे, एक सफ़ेद और दूसरा काला (अर्थात् दिन और रात), काट रहे हैं। कन्दरा के अन्दर एक काला नाग (अर्थात् काल) मुँह खोले पड़ा है। इन झाड़ियों में शहद का एक छत्ता है जिससे एक-एक बूँद शहद नीचे टपकती है। यह बूँद मनुष्य के मुँह में पड़ने पर उसे ऐसी मीठी लगती है कि वह सभी

मुसीबतों और ख़तरों को भूल जाता है। यह बूँद तृष्णा को और भी बढ़ा देती है। प्यास के बढ़ने से पहले से ज़्यादा दुःख होने पर भी इस मिठास की आशा से वह शहद की ओर टकटकी लगाये रहता है। उसे जीने की लालसा बनी रहती है।

प्राप्ति के विभिन्न मार्ग

भगवद्गीता अध्याय ७ के श्लोक ३ में कहा गया है—"हज़ारों में से कोई एक सिद्धि चाहता है। उनमें से कोई बिरला ही यत्न करता है। यत्न करनेवालों में से कोई ही मुझको जान सकता है।" क्यों? अध्याय १३ के श्लोक २७ में कहा गया है—"देखता वही है जो समस्त संसार के अन्तस्तल में एक सार को पहचानता है।" फिर भी अध्याय ४ के श्लोक ११ में इस कठिनाई को यों दूर कर दिया गया है—"मनुष्य जिस किसी मार्ग से आते हैं, मैं उनको उसी मार्ग से स्वीकार करता हूँ।"

उस तरफ़ जाने के कई मार्ग हैं। अध्याय १३ के श्लोक २४ में बताया गया है—"इस अज्ञान को दूर करने के कई तरीक़े हैं। कई लोग ध्यान से, कई कर्म से और कई ज्ञान से पहुँचते हैं। भक्ति-मार्ग इनके अतिरिक्त एक और तरीक़ा है।"

इन चार बड़े मार्गों में से पहला ध्यान का है। ध्यान करने का तरीक़ा राजयोग कहलाता है। भगवद्गीता के छठे अध्याय में राजयोग का सुन्दर, संक्षिप्त, वर्णन है। शुद्ध स्थान में आसन लगाकर आदमी प्राणायाम करे और ध्यान करने का अभ्यास डाले। यम, नियम आदि आठ सीढ़ियों का विस्तृत वर्णन योग-दर्शन में पाया जाता है।

मन की स्थिरता

ध्यान-योग में मन की एकाग्रता प्राप्त करना आवश्यक है। मन को स्थिर करना ध्यान है। आँखें बन्द करके देखिए, मन किधर से किधर घूमता है। इसे घूमने से रोकने का यत्न कीजिए। आप जितना ज़्यादा यत्न करेंगे उतना ही ज़्यादा यह इधर-उधर दौड़ेगा। इसी से शरीर की

समता उस रथ से की गई है जिसके घोड़े इन्द्रियाँ हैं, मन उनकी बाग है और आत्मा सारथि है।

अर्जुन जैसा एकाग्र-चित्त मनुष्य योग की व्याख्या सुनकर प्रश्न करता है—"मन को क़ाबू में करना ऐसा ही है जैसे आँधी को बाँधना। इसको किस तरह वश में करना चाहिए?" अर्जुन की ध्यानशक्ति आचार्य द्रोण द्वारा ली गई उस परीक्षा से भली भाँति स्पष्ट हो जाती है जिसमें उन्हें पेड़ पर बैठे हुए पक्षी की आँख के सिवा और कुछ भी दीख नहीं पड़ता था।

मन की चञ्चलता और अभ्यास तथा वैराग्य

जानवरों में बन्दर सबसे अधिक चञ्चल है। इसी से मन की तुलना बन्दर से की गई है—ऐसे बन्दर से जो शराब पिये हो और जिसे बिच्छू ने काटा हो। मनुष्य में अभिमान और ईर्ष्या ही हैं क्रमशः उक्त शराब और बिच्छू। भगवद्गीता में अर्जुन को बताया गया है—"यद्यपि मन बड़ा बलवान् है, फिर भी अभ्यास और वैराग्य से यह क़ाबू में आ सकता है।"

इस विषय में असम्भव मालूम देनेवाली कुछ बातें अभ्यास से सम्भव हो जाती हैं। सरकस में बन्दर, हाथी आदि अभ्यास की बदौलत कैसे आश्चर्यजनक खेल करते हैं। शारीरिक अभ्यास करने से दुबला-पतला आदमी भी पहलवान बन सकता है। मन के अभ्यास का अर्थ है 'उसको सब ओर से हटाकर किसी विशेष वस्तु या विचार पर लगाना'। मन को अन्य चीज़ों से हटाने का माध्यम वैराग्य है। इस काम में सत्सङ्ग और धर्मोपदेश सहायक हैं। भगवद्गीता में कहा गया है—"विषयों का ध्यान करने से मनुष्य नष्ट हो जाता है।" गोस्वामी तुलसीदास ने भी एक जगह इसी बात को कहा है—

जा कहँ प्रभु दारुण दुख देहीं।
ताकर मति पहले हरि लेहीं॥

यदि मनुष्य पाप करता है तो ईश्वर उसकी अक़्ल को मार देता है।

इन्द्रियों के वश में होकर मन विषयों के अधीन रहता है। विषयों की हवा उसे शान्त नहीं होने देती। भगवद्गीता के अध्याय ६ के श्लोक

१८, १६ और २० में बताया गया है—"एकाग्र-चित्त मनुष्य उस ज्योति के समान है जो हवा से सर्वथा सुरक्षित गति-रहित जलती है। मन भी शान्त होकर आत्मा को अपने अन्दर देख सकता है।"

प्राणायाम और ध्यान

भगवद्‌गीता के अध्याय ६ के श्लोक १२ और १३ में कहा गया है—"प्राणायाम मन को स्थिर करने में सहायता देता है। प्राणायाम का उद्देश साँस को बाक़ायदा बनाना और साथ ही लम्बा करने की शक्ति पैदा करना है।" अनुभव से सिद्ध है कि श्वास की नियमितता का नाड़ियों* की मज़बूती से विशेष सम्बन्ध है और इनके सबल होने से मन की स्थिरता असाधारण रूप से बढ़ जाती है। अध्याय ४ के आरम्भ के श्लोकों में यज्ञ का उल्लेख करके २६वें और २७वें श्लोकों में इन्द्रियों को अपने अन्दर डालने को भी यज्ञ कहा गया है। इन्द्रियों के ये यज्ञ नाक, कान, आँख आदि के द्वारा किये जा सकते हैं। आम बात है कि किस प्रकार सम्मोहन† करनेवाले आदमी एक काला दाग़ बनाकर आँख झपकाये बग़ैर उसकी तरफ़ देखते रहने का अभ्यास करते हैं।" इससे उनकी दृष्टि में दूसरों पर प्रभाव डालने की शक्ति आ जाती है।

तप के साधन

भगवद्‌गीता के अध्याय २ के श्लोक ५८, ५६ और ६४ में कहा गया है—"जब मनुष्य मन को उसी प्रकार इन्द्रियों से पीछे हटा लेता है, जिस प्रकार कछुआ अपने अङ्गों को सिकोड़ लेता है, तब विषय-वासना धीरे-धीरे कम होने लगती है। अन्त में वासना का विचार भी मन से उड़ जाता है। तभी आत्मा का दर्शन होता है।" आगे बताया गया है—"इन्द्रियों को निराहार या भूखा रखने से विषयों से पीछा छूट सकता है। इन्द्रियों को व्रत में रखना बड़ा भारी तप है।" यम और नियम इसके

---

* नाड़ी = Nerve (नर्व)। † सम्मोहन = Hypnotism (हिप्नाटिज़्म)।

बड़े साधन हैं। यम पाँच हैं जिनका सम्बन्ध समाज से है। इनके बिना समाज चल नहीं सकता। यम ये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह(संग्रह न करना)।

नियम भी पाँच हैं जिनका सम्बन्ध मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन से है। इन पर न चलने से दूसरों की कोई हानि नहीं होती, परन्तु आदमी ख़ुद अयोग्य बन जाता है। नियम ये हैं—शौच (शरीर तथा मन की शुद्धि), सन्तोष, तप, स्वाध्याय और प्रणिधान (परमात्मा में विश्वास रखना)।

जीवन का एक भाग, वानप्रस्थ-आश्रम, इसलिए भी अलग किया गया कि मनुष्य ध्यान-मार्ग पर सफलता-पूर्वक चलने के लिए एक समय तक संसार और उसके लोगों से परहेज़ रक्खे। यह आश्रम अपने आपको तैयार करने के लिए है ताकि मन को जीतने की शक्ति उत्पन्न हो जाय। यदि वानप्रस्थ आश्रम में रहकर भी आदमी का मन विषयों का चिन्तन करता है तो—भगवद्गीता के अध्याय ३, श्लोक ६ के अनुसार—वह मूढ़ और ठग है।

ध्यान की अवस्था

ध्यान के समय यह देखना कि चित्त किधर जाता है, कौन-सी वस्तु उसके लिए आकर्षण है और फिर इस आकर्षण को तोड़कर चित्त को उधर से हटाना, यह प्रत्याहार कहलाता है। इससे आगे चित्त की एकाग्रता है। इससे मनुष्य ध्यान पर पहुँचता है। ध्यान से वह समाधि में प्रवेश करता है। तब आत्मा अपने ही अन्दर मग्न हो जाती है। ऐसे मन की अवस्था जल से अलिप्त कमल के पत्ते की सी हो जाती है।

ध्यानी मनुष्य संसार की चीज़ों को देखता और सुनता है, परन्तु उसका मन इन्द्रियों से परे रहता है। जिस मनुष्य ने मन को जीत लिया है उसने समस्त जगत् पर विजय पा ली है। जो मनुष्य अपने मन का मालिक है वह समस्त ब्रह्माण्ड का मालिक है।

———

ग्यारहवाँ परिच्छेद

ज्ञान-मार्ग

अज्ञान की अवस्था

दूसरा मार्ग अज्ञान दूर करके ज्ञान प्राप्त करना है। अज्ञान में फँसा हुआ जीव दुःख उठाता है। किसी वस्तु को ग़लत या उलटा समझना अज्ञान है। पशुओं के अन्दर इसके कई उदाहरण मिलते हैं। गधे में हद दर्जे का अज्ञान पाया जाता है। तोता भी अज्ञान के वशीभूत हो दुःख उठाता है। इसको पकड़ने का विचित्र-सा फन्दा बनाया जाता है। छड़ी के एक सिरे से धागा बाँधकर उसे वृक्ष की टहनी से बाँध दिया जाता है। ज्यों ही तोता उस पर आकर बैठता है त्यों ही छड़ी का सिरा झुक जाता है। तोता छड़ी को ज़्यादा ज़ोर से पकड़ता है। वह सिरा और भी नीचे हो जाता है। इस पर तोता पहले से भी ज़्यादा मज़बूती के साथ उसको पकड़ता है। यह ख़याल उसके दिमाग़ में बैठ जाता है कि पञ्जे मज़बूत करने से जान बच जायगी। बस, इसी हालत में शिकारी उसे आसानी से पकड़ लेता है।

मनुष्य के लिए भ्रमजाल

पशु की तरह मनुष्य की भी दशा है। पग-पग पर ऐसी परिस्थितियाँ सामने आती हैं जो उसे अज्ञान में डाल देती हैं। एक यात्री को तालाब के अन्दर मणि चमकती नज़र आई। पानी ख़ूब साफ़ था। उसने कपड़े उतार दिये और मणि निकालने के लिए ग़ोता मारने लगा। वह उसे आँखों से देखता था, परन्तु हाथ से पकड़ी न जाती थी। बार-बार कोशिश करने के बाद वह थककर ज़मीन पर लेट गया। एक सन्त

वहाँ पहुँचे। उसका हाल पूछा। उसके बताने पर उन्होंने कहा—"वृक्ष के ऊपर देखो। चोटी पर एक पंछी बैठा है जिसके मुँह में मणि है। मणि की चमक पानी में पड़ती है। इसी ने तुमको हैरान कर रक्खा है।"

अज्ञान का कारण—तृष्णा

भर्तृहरि ने कहा है—'काल नहीं ख़तम होता, हम गुज़र जाते हैं। भोग नहीं भोगे जाते, हमीं भोगे जाते हैं। तृष्णा नहीं मिटती, हम मिट जाते हैं।" भगवद्गीता में बताया गया है—"यह तृष्णा हमारे सारे अज्ञान का मूल कारण है। यह हमारी आत्मा पर परदा डाल देती है। तृष्णा की तृप्ति कभी नहीं हो सकती।" आग में घी डालने से वह और भी ज़ोर से भड़कती है। तृष्णा की अग्नि में भोग डालने से वह और ज़्यादा चमकती है। यह आग जितनी ज़्यादा भड़कती है, दुःख उतना ही ज़्यादा बढ़ता है।

जर्मन दार्शनिक शापनहावर ने बड़े संक्षिप्त रूप से सुख को उस भिन्न* में प्रकट किया है जिसका अंश† भोग है और भाजक‡ भोगों की इच्छा। अंश के अधिक और भाजक के कम होने से सुख बढ़ता है, इसके विपरीत होने पर दुःख। वह बताता है कि हमारे भोग तो व्यक्त श्रेणी§ के नियम के अनुसार बढ़ते हैं। (५ को २ से गुणा करना, फिर ४ को २ से गुणा करना, फिर ८ को २ से गुणा करना, इत्यादि—इसे व्यक्त श्रेणी कहा जाता है।) परन्तु हमारी इच्छाएँ गुणोत्तर श्रेणी‖ के नियम से बढ़ती हैं। (२ को २ से गुणा करना, फिर ४ को ४ से गुणा करना, फिर १६ को १६ से गुणा करना इत्यादि गुणोत्तर श्रेणी कहलाती है।)

---

* भिन्न=Fraction (फ्रैक्शन)। † अंश=Numerator (न्युमरेटर)। ‡ भाजक=Denominator (डिनामिनेटर)। § व्यक्त श्रेणी=Arithmetical Progression (अरिथमेटिकल प्राग्रेशन)। ‖ गुणोत्तर श्रेणी=Geometrical Progression (ज्यामेट्रिकल प्राग्रेशन)।

तात्पर्य यह कि हम जितने ज़्यादा भोग भोगते हैं उतने गुना ज़्यादा हमारी इच्छाएँ बढ़ जाती हैं।

कारलाइल ने इस भिन्न से एक अन्य गहरा मतलब निकाला है। गणित का नियम है कि अंश कुछ भी हो, यदि किसी भिन्न के भाजक को शून्य कर दिया जाय तो उसका मूल्य निस्सीम हो जाता है। इसी प्रकार सुख की इस भिन्न में विभाजक को शून्य कर दीजिए अर्थात् इच्छाओं या तृष्णा को बिलकुल मिटा दीजिए। बस, सुख निस्सीम हो जायगा।

आवश्यकताएँ और भौतिक उन्नति

इस सिद्धान्त पर यह आपत्ति की जा सकती है—"आवश्यकताओं को कम कर देना ग़लत बात है। इससे आदमी सुस्त हो जाता है। इसके विपरीत आवश्यकताओं की संख्या बढ़ाने से आनन्द की मात्रा बढ़ती है। फैलाव होना चाहिए न कि सिकुड़ाव।" पंजाब के एक रेलवे स्टेशन पर सरदी के मौसम में तड़के सबेरे एक ग़रीब यात्री बैठा था। उसके शरीर पर कोई कपड़ा न था। उसे सरदी लग रही थी। वह अपने शरीर को सिकोड़ता चला जाता था। एक सज्जन ने उसकी ओर इशारा करके कहा—"यह आवश्यकताओं के सम्बन्ध में सिकुड़ाव के सिद्धान्त* को प्रकट करता है।"

भौतिक उन्नति करने की ओर संसार के लोगों का स्वाभाविक झुकाव रहता है। यहाँ तक कि वह भौतिक उत्कर्ष ही अपकर्ष उत्पन्न करता है। लोगों को यह उपदेश करने की ज़रूरत ही नहीं कि वे अपनी इच्छाओं को बढ़ाकर भोगों की वृद्धि करें। ऐसा करने की तो हर एक मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। दर्शन का काम है लोगों को वास्तविकता का ज्ञान कराना। यह बात दूसरी है कि उसके सुनने, समझने और उस पर आचरण करने पर कोई बिरला ही तैयार होता है।

---

* सिकुड़ाव का सिद्धान्त = Theory of Contraction (थियरी आव् कांट्रेक्शन)।

इस बात का अनुभव करना मुश्किल है कि अज्ञान में रहनेवाला मनुष्य दुःख के गड्ढे में पड़ा रहता है। यह अनुभूति होने के बाद मनुष्य उस अवस्था को बदलना चाहता है। तब वह मार्ग ढूँढ़ता है और कोई पथ-प्रदर्शक चाहता है। भगवद्गीता के अध्याय ४ के श्लोक ३३ और ३४ में बताया गया है—"गुरु की खोज करने के बाद उसकी सेवा कर उससे ज्ञान-धन प्राप्त करो। वही इसकी प्राप्ति के वे आवश्यक साधन और तप बतायेगा जिनके बग़ैर ज्ञान-उपलब्धि कठिन है।"

ज्ञान-प्राप्ति और अधिकारी

गुरु के लिए पहले यह सोचना ज़रूरी होता है कि जिज्ञासु किस दर्जे के ज्ञान का पात्र है। जब एक जिज्ञासु गुरु के पास जाता था तब गुरु उसे कोई ख़ास तप करने को कह देता कि इसके छः मास या साल भर के बाद आना। इस प्रकार उसे यह मालूम हो जाता कि वह सचमुच ज्ञान का इच्छुक है या नहीं। इसके अतिरिक्त तप के द्वारा उसकी अन्य इच्छाओं को दबाना भी एक उद्देश होता था।

भगवद्गीता के अध्याय ३ के श्लोक २६, २७ और २६ में कहा गया है—"मूर्ख को ज्ञान कभी न देना चाहिए। संसार के साथ उसका प्रेम हिला देने का परिणाम अच्छा न होगा।" इस पर आपत्ति की जा सकती है कि यह तो एक प्रकार का झूठ और लोगों को धोखा देने के बराबर है। यहाँ आपत्ति करनेवाले भूल करते हैं। वे यह नहीं समझते कि मूर्ख वह है जिसके मन में ज्ञान की इच्छा उत्पन्न न हुई हो। जिसे इच्छा ही नहीं उसे ज्ञान की बात बताना व्यर्थ है। इसके विपरीत वह तो ज्ञानोपदेश के अनुसार आचरण कर ही न सकेगा।

इच्छा और बुद्धि

साधारण और मोटी बातें लोगों को भली मालूम देती हैं। सम्भवतः इसी से कहानियों की किताबें अधिक बिकती हैं। गूढ़ विषय पर व्याख्यान हो तो लोग थोड़ी देर के बाद धीरे-धीरे उठने लगते हैं। गम्भीर और विचारणीय पुस्तक को बहुत कम लोग पढ़ना चाहते हैं।

जैसे निम्न कक्षा का विद्यार्थी ऊँची शिक्षा की पुस्तकों से आनन्द नहीं उठा सकता और छोटी आयु का बच्चा विषय-भोग के सुख को नहीं समझ सकता, ऐसे ही मूढ़ के लिए ज्ञान की बात समझना मुश्किल होता है।

ज्ञानप्राप्ति का तरीक़ा

भगवद्गीता के अध्याय ५ के श्लोक २६ में कहा गया है—"वही योगी जिसने तृष्णा को मारकर मन अपने क़ाबू में कर लिया है, ब्रह्म-आनन्द को प्राप्त कर सकता है।" इस मन को वश में करने का एक तरीक़ा तो राजयोग है। मन पर किस प्रकार क़ाबू पाया जा सकता है, यह अष्टावक्र के उदाहरण से प्रकट होता है। राजा जनक ने इच्छा प्रकट की कि उन्हें कोई ऐसा गुरु मिले जो क्षण भर में ज्ञान का मार्ग दिखला दे। भरी सभा में एक भी ऐसा मनुष्य नहीं निकला। यह सुनकर अष्टावक्र वहाँ पहुँचे। उनके टेढ़े शरीर को देख सभा के कुछ सदस्य हँस पड़े। इस पर अष्टावक्र ने कहा—"क्या यह चमारों की सभा है जो चमड़े को परखना चाहती है?" सब लोग शरम के मारे चुप हो गये। अष्टावक्र से भी वही प्रश्न किया गया—"क्या आप क्षण भर में ज्ञान का मार्ग दिखला सकते हैं?" अष्टावक्र ने उत्तर दिया—"पहले गुरु-दक्षिणा मिले तब ज्ञान बताऊँगा।" इस पर जनक ने कोश और राज्य की ओर इशारा किया। अष्टावक्र ने कहा—"इनमें आपका क्या है? आपसे पहले इनके कई मालिक थे।" जनक ने अपने बाल-बच्चों की ओर संकेत किया तो अष्टावक्र बोले—"ये सब तो अपनी-अपनी आत्मा रखते हैं; ये आपके नहीं हैं।" जनक ने कहा—"मन मेरा है। यह आपके अर्पण है।" यह सुनकर अष्टावक्र वहाँ से चल दिये। इससे जनक को क्रोध आया कि ये कुछ बताये बिना ही चल दिये। सोचने पर ख़याल आया—"क्रोध तो मन में उत्पन्न होता है और मन मेरा है नहीं। फिर अष्टावक्र पर ग़ुस्सा कैसा?" इस प्रकार वहाँ खड़े-खड़े जनक विचार में पड़ गये और उन्हें ज्ञान प्राप्त हो गया।

ज्ञान का आनन्द और वाणी

भगवद्गीता का दूसरा अध्याय आत्मिक ज्ञान का समुद्र है। इसके श्लोक ७० में कहा गया है—"ज्ञानी का मन समुद्र के अन्तस्तल की तरह शान्त हो जाता है। समुद्र में नदियाँ गिरती हैं, तूफ़ान आते हैं, परन्तु उसकी तह ज्यों की त्यों अचल और शान्त रहती है।" अध्याय ५ के श्लोक २४ और २५ में बताया गया है—"जो योगी अपने आन्तरिक आनन्द को प्राप्त कर लेता है वह इस जन्म में ही मुक्ति का आनन्द हासिल कर लेता है। इस जन्म में वह जनक के समान जीवन-मुक्त हो जाता है।"

यह आनन्द केवल स्व-संवेद्य है। इसका अनुभव वहीं करता है जिसमें अनुभव करने की शक्ति होती है। उपनिषद् में कहा गया है—"उसके मन की घुण्डियाँ खुल जाती हैं, संशय मिट जाते हैं, कर्म नष्ट हो जाते हैं और वह आत्मा के स्वरूप को देखने लगता है।"

भगवद्गीता के अध्याय ७ के श्लोक २ में कहा गया है—"यह वह ज्ञान है जिसके जानने के बाद और कुछ जानना बाक़ी नहीं रहता।" लोग पूछते हैं—"ऐसे ज्ञान से हमें क्या लाभ होगा? या, इससे हमें कौन सा सुख मिलेगा?" यह सवाल ऐसा ही है जैसे पिता से बेटे का यह पूछना कि 'यदि मैं विद्या लाभ करूँगा तो क्या इससे मुझे खिलौने मिलेंगे?' गीता अध्याय ५ श्लोक १६ में कहा है—"यह ज्ञान ज्ञानी के हृदय को सूर्य के समान प्रकाशमय कर देता है।" पहाड़ की चोटी पर चढ़कर देखने से बादल अक्सर पाँव के तले मालूम होते हैं और नीचे बरसात होने पर भी सूर्य सिर पर चमकता होता है। इसी प्रकार संसार के सभी बादल ज्ञान के पाँव तले रह जाते हैं; उसके ऊपर हमेशा ज्ञान का सूर्य चमकता रहता है।

जीवन-मुक्त और सांसारिक काम-काज

ऐसा मनुष्य शरीर धारण करते हुए भी मुक्त हो जाता है। हिन्दू पतिव्रता नारी घर का सब काम-काज करती है, परन्तु उसका चित्त हर

समय अपने पति के प्रेम में मगन रहता है। इसी प्रकार जीवन-मुक्त संसार में रहता हुआ भी उससे अलग रहता है। राजा जनक के जीवन-मुक्त होने का दृष्टान्त दिया जाता है। (भगवद्गीता में उनको जीवन-मुक्त का नमूना बताया गया है।) एक संन्यासी ने जनक के पास जाकर अपना संशय प्रकट किया—"आपको लोग जीवन-मुक्त क्यों कहते हैं? आप तो संसार में लिप्त हैं।" जनक ने राज-प्रासाद के अन्दर ही संन्यासी को रहने के लिए जगह दे दी। अचानक एक दिन थोड़े फ़ासले पर आग लग गई। सिपाही दौड़े-दौड़े आये। उन्होंने राजा को ख़बर दी जो उस समय उस संन्यासी के पास बैठे थे। राजा ने आग को बुझाने का आदेश दिया। फिर ख़बर आई, आग तो महल के पास आ पहुँची। यह सुनते ही संन्यासी उठा और बोला—"मेरी लँगोटी और लोटा पड़ा है। उनको लेने जा रहा हूँ।" इस पर जनक ने संन्यासी को समझाया कि तुम्हारा मन लँगोटी और लोटे के अन्दर फँसा है इसी से इतनी घबराहट पैदा हुई।

—

बारहवाँ परिच्छेद

भक्ति-मार्ग

जनसाधारण का मार्ग--भक्ति

भगवद्गीता के अध्याय १२ के श्लोक ६, ७, ८, १४ आदि में, अध्याय १८ के श्लोक ६५ और ६६ में, और अन्य कई स्थानों में कहा गया है—"तुम मेरी शरण में आओ। मेरा प्रेम ऐसा है कि मेरी शरण में आने से तुम सभी क्लेशों से बच जाओगे।"

बारहवें अध्याय के आरम्भ में प्रश्न उठाया गया है—"आप तक कौन-सा मार्ग आसानी से पहुँचाता है?" श्लोक ५, ६ और ७ में उत्तर दिया गया है—"जो सब कर्म मुझ पर छोड़ देते हैं और अनन्य भक्ति से मेरे पास आते हैं उन्हें मैं मृत्यु के समुद्र से जल्दी पार करवा देता हूँ।"

ज्ञान और ध्यान, ये दो मार्ग, बहुत थोड़े मनुष्यों के लिए हैं। आम लोगों के वास्ते भक्ति और कर्म के मार्ग हैं। इन दोनों रास्तों पर चलना अपेक्षाकृत आसान है। प्रेम और भक्ति का भाव स्वभावतः हर मनुष्य के अन्दर पाया जाता है। स्वार्थ एक ओर चलता है, प्रेम दूसरी ओर। ज्यों-ज्यों प्रेम बढ़ता है, त्यों-त्यों आदमी सांसारिक ख़ुदी को भूलता जाता है। किसी मनुष्य में जब यह भाव पराकाष्ठा तक पहुँच जाता है तब उसके लिए शेष संसार का कोई अस्तित्व नहीं रहता। आम तौर पर प्रेम मनुष्य में काम-भाव के रूप में पाया जाता है। परन्तु विचार और सुसं-गति से उसका रूप भक्ति और आध्यात्मिक प्रेम में बदल जाता है।

तुलसीदास, सूरदास आदि इसके उदाहरण हैं। इसी प्रकार बहुत-सी युवतियाँ भिक्षुणियाँ* बन जाती हैं।

नेता से प्रेम

भक्ति का एक रूप साधारण सभा-समाजों, मज़हबी आन्दोलनों और दल-सङ्गठन† में पाया जाता है। मनुष्य प्रायः अपने नेता पर इतना प्रेम और विश्वास करते हैं कि उसके लिए वे सब कुछ करने पर तैयार हो जाते हैं। जनसाधारण अपने नेता के अस्तित्व में अपने अस्तित्व को भुला देते हैं।

साधारण लोगों में इस प्रकार का भाव प्रशंसनीय है। परन्तु भारत में कुछ चालाक आदमियों ने मज़हबी तौर पर इसका गर्हणीय प्रयोग किया है। एक दल को अपना भक्त बनाकर उसके अन्दर दासत्व उत्पन्न कर देना नीच कर्म है। यहाँ के कुछ धूर्त कहते हैं—"ईश्वर मेरा मित्र है; मैं उससे प्रतिदिन बातें करता हूँ। इसलिए मेरी बात को तुम अक्षरशः मानो।" कुछ समय बाद वे एक नया तमाशा रच लेते हैं—"ईश्वर का तो संसार में कोई अस्तित्व ही नहीं; मैं ही ईश्वर हूँ। मेरी ही पूजा किया करो।" लेकिन योरप और अमेरिका के समाज ऐसे मूर्खों से नहीं बने हैं। वहाँ ऐसे पाखण्ड प्रायः नहीं चल पाते।

परमात्मा किससे प्रेम करता है?

मत्सीनी का ख़याल है कि भावी युग का मज़हब मानवता‡ होगा। इसका उद्देश इस बात का प्रचार होगा कि परमात्मा की सृष्टि से प्रेम करो और दूसरों के सुख में अपना सुख समझो। दूसरों के उपकारार्थ काम करना ही सबसे बड़ी ईश्वर-पूजा है।

यों तो प्रायः सभी लोग परमात्मा से प्यार करते हैं। परन्तु गीता के बारहवें अध्याय के श्लोक १२, १३, १४ आदि में बताया गया है कि

* भिक्षुणियाँ = Nuns (नंज़)।
† दल-संगठन = Party organisation (पार्टी आर्गेनिज़ेशन)।
‡ मानवता = Humanity (ह्यमैनिटी)।

"जो सब प्राणियों के लिए मित्रता और करुणा का भाव रखता है, ममता और अहङ्कार से रहित होता है, सुख-दुःख को बराबर समझता है, सदा धैर्य से काम लेता है और मन तथा बुद्धि मेरे अर्पण कर देता है वह मुझको सबसे प्रिय है।"

भगवद्गीता के अध्याय ६ के श्लोक ३० में कहा गया है—"जो मनुष्य मेरे अन्दर सभी प्राणी और सभी प्राणियों में मुझको देखता है वह मुझसे कभी पृथक् नहीं होता। जिसका किसी से कोई वैर नहीं वह मेरा सच्चा भक्त है।"

इस श्लोक की तरह कई अन्य स्थानों, उदाहरणार्थ अध्याय ११, में भी श्रीकृष्ण कहते हैं—"मैं ही संसार की आत्मा हूँ।" लोगों को यह पहेली समझने में बड़ी मुश्किल होती है कि एक मनुष्य संसार की आत्मा क्योंकर बन सकता है। इसको समझने के लिए हम एक दृष्टान्त लेते हैं। मनुष्य की आत्मा को हम एक सूक्ष्म बिन्दु मान लेते हैं। साधारण अवस्था में हर एक मनुष्य अपनी आत्मा को शरीर से सीमित समझता है। वह मनुष्य जो कुछ करता है अपने शरीर के लिए ही। जब मनुष्य इससे उन्नत होकर अगली अवस्था में जाता है तब वह अपनी आत्मा (सेल्फ़) को फैलाकर अपने परिवार तक ले जाता है। इस अवस्था में वह परिवार को ही सब कुछ समझता है। मनुष्य की उन्नति का अगला दर्जा वह है जिसमें बिरादरी के अन्दर वह अपनी आत्मा फैला देता है। इस प्रकार वह बिन्दु फैलते-फैलते परिवार से कुल तक पहुँच जाता है। आत्मा के फैलाव का अगला क्षेत्र जाति है। जो लोग जाति के लिए जीते और मरते हैं वे जाति में ही अपनी आत्मा देखते हैं। ऐसे मनुष्य देश और जाति या राष्ट्र के लिए हर प्रकार का त्याग करते हैं। मनुष्य की उन्नति एक दर्जा और बाक़ी है। तब मनुष्य प्राणि-मात्र के अन्दर अपनी आत्मा को फैला हुआ देखता है। यह अवस्था है जहाँ पर पहुँच कर मनुष्य का स्वार्थ और परमार्थ एक हो जाते हैं। उसकी आत्मा समस्त संसार की आत्मा हो जाती है और वह उन्नत आत्मा समस्त ब्रह्मांड की

आत्मा के साथ एक हो जाती है। भगवान् कृष्ण की आत्मा इस उन्नत अवस्था में थी। इसी लिए वे अपने आपको सारे ब्रह्मांड की आत्मा कह सकते थे।

पूजा का अर्थ

परमात्मा की भक्ति की तीन श्रेणियाँ हैं—स्तुति, प्रार्थना और उपासना। जिस प्रकार हम किसी भव्य-भवन या अद्भुत शक्तिवाले मनुष्य को देखकर चकित होते हैं और हमारे अन्दर उसके लिए प्रशंसा-भाव उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार परमात्मा को समस्त ब्रह्मांड में काम करता हुआ देखकर हमारे मन में स्तुति का भाव उत्पन्न होता है। किसी विचित्र गुण को देखकर हमारे अन्दर उस गुण को प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है। परमात्मा को और अधिक जानने की इच्छा का नाम प्रार्थना है—"हमारी बुद्धि तीक्ष्ण हो और हम आपको और ज़्यादा जान सकें।" दिन प्रतिदिन अधिक अध्ययन करता हुआ बच्चा अधिक ज्ञान प्राप्त करता है। ऐसा करते करते वह गुरु के अधिक निकट हो जाता है। इसे उपासना कहते हैं।

हम उसी शक्ति को ब्रह्मांड में देखते हैं जिसे अपने अन्दर काम करते पाते हैं। इस सच्ची उपासना से हमें सभी प्राणियों के अन्दर परमात्मा की शक्ति नज़र आती है। परमात्मा की संगति में हम उस लोहे के समान होते हैं जो चुम्बक के साथ लगने से चुम्बक हो जाता है। एक कवि की कल्पना है—"सिवा बाँस के—क्योंकि यह अभिमानी सीधे ऊँचा ही ऊँचा चला जाता है और अन्दर से खोखला होता है—जो भी वृक्ष चन्दन के पास होता है वह चन्दन के समान सुगन्धित हो जाता है।" भगवद्गीता के अध्याय ४ के श्लोक ३६ में कहा गया है—"उसको प्राप्त करने के बाद बड़े से बड़ा पापी भी पाप के समुद्र से पार हो जाता है।"

भक्ति और मूर्ति

भगवद्गीता के अध्याय ७ के श्लोक २१ से २३ बतलाते हैं—"जो जिस देवता की पूजा करता है उसी में मैं उसकी श्रद्धा पूरी करता हूँ। वह

उस देवता से फल प्राप्त करता है, परन्तु वास्तव में फल देनेवाला मैं हूँ। थोड़ी समझवाले लोग देवताओं की पूजा करते हुए उन तक पहुँचते हैं। मेरे भक्त मुझको पाते हैं।" अल्पबुद्धि लोग इन श्लोकों में मूर्त्ति-पूजा की सिद्धि ढूँढ़ते हैं। भगवद्गीता में देव का अर्थ ज्ञान, विद्या, वीरता आदि गुण हैं जैसा कि अध्याय ४ के श्लोक १२ से प्रकट होता है। 'मेरे' शब्द का अर्थ 'आत्मा का' है। जिस अर्थ में मूर्त्ति-पूजा आज-कल भारत में समझी जाती है उसका भगवद्गीता में विचार भी नहीं मिलता। यदि मूर्ति के अंदर हमें कोई गुण दिखलाई नहीं देता और न हमको यह ज्ञात है कि जिसकी यह मूर्त्ति है उसके क्या गुण हैं तो उस मूर्त्ति से भक्ति-भाव कैसे उत्पन्न हो सकता है? और, यदि हमको किसी देवता के गुणों का वास्तविक ज्ञान है तो उसकी मूर्त्ति बनाकर रखना न रखना बराबर है। भगवद्गीता के अध्याय ९ के श्लोक २६ से २९ में कहा गया है—"यदि कोई मनुष्य प्रेम से एक पत्ता भी मुझे भेंट करता है तो मैं उसे सहर्ष स्वीकार करता हूँ। यों तो सभी मुझे प्रिय हैं परन्तु जो मनुष्य मुझसे प्रेम करता है वह मुझमें मिल जाता है। तब मैं उसमें होता हूँ और वह मुझमें होता है।"

आत्मा का विस्तार ही प्रेम की जड़ है

प्रेम वास्तव में क्या है? ऐतरेय उपनिषद् में इसका सुन्दर विवेचन है। ऋषि पूछता है—"माता को पुत्र और पुत्र को माता क्यों प्रिय है? पत्नी को पति तथा पति को पत्नी क्यों प्रिय है?" आगे चलकर जवाब दिया गया है—"पुत्र होने के कारण लड़का माता को प्यारा नहीं, बल्कि आत्मा के कारण। पत्नी पत्नी के कारण प्यारी नहीं है बल्कि आत्मा के कारण। यों स्त्री, पुत्र और पिता अगणित हैं, परन्तु हम उनमें से एक को इसलिए प्यार करते हैं कि हमारी आत्मा का उससे सम्बन्ध है। कोई मनुष्य दूसरे आदमी को उसकी ख़ातिर प्रेम नहीं करता, बल्कि इसलिए कि अपनी आत्मा को फैलाकर उसे दूसरे के अन्दर देखता है। यही उसका प्रेम है। ज्ञानी लोग अपनी आत्मा को इतना फैलाते हैं कि

समाज, जाति, मानव-समाज बल्कि प्राणि-मात्र में अपने आपको ही समझने लगते हैं। यदि इसमें भी .खुदी का कुछ अंश है तो वह इतना अधिक फैला हुआ है कि उसका अस्तित्व नहीं के बराबर है।

भगवद्गीता के अध्याय १२ के श्लोक ६ और ७ में कहा गया है—"अर्जुन ! तुम मन, बुद्धि और कर्म, सब कुछ मेरे अर्पण कर दो।" अध्याय १८ के श्लोक ६५ और ६६ में बताया गया है—"हे अर्जुन, सब धर्मों को छोड़ मेरी शरण में आ जा। मुझ पर भरोसा रख। मेरे चरणों में आ और मेरा ही भक्त बन जा। मैं तुझसे कहता हूँ कि तू ऐसा कर, क्योंकि तू मुझे प्रिय है।" इन श्लोकों को पढ़ने पर मनुष्य एक बार अपना अस्तित्व भूलकर भगवद्गीता में तन्मय हो जाता है। तब प्रेम में मग्न हो पुकार उठता है—"मैं धन नहीं चाहता। न मुझे सुख की इच्छा है, न मुक्ति की। मैं केवल आपके प्रेमामृत का प्यासा हूँ।"

प्रेम और विश्वास-बल

ज्यों-ज्यों प्रेम बढ़ता है त्यों-त्यों विश्वास बढ़ता है। तब निःस्वार्थ-भाव आता है और अहङ्कार मर जाता है। अपने पूज्य की भक्ति में भक्त अपने आपको खो देता है। इस विश्वास के अन्दर वह बल पैदा हो जाता है जिसका मुक़ाबला दुनिया में नहीं हो सकता।

इस विषय में एक हिरनी की कहानी याद रखने योग्य है। छोटे बच्चे समेत उसे शिकारी ने पकड़ लिया। शिकारी ने एक तरफ़ आग लगा दी, दूसरी तरफ कुत्ते खड़े कर दिये, तीसरी तरफ़ बाड़ बना दी और चौथी तरफ़ तीर-कमान लेकर .खुद बैठ गया। हिरनी को परमात्मा के सिवा कोई सहारा दिखाई न दिया। उसने भगवान् को सच्चे दिल से याद किया। संयोग से आँधी चल पड़ी। इससे बाड़ को आग लग गई और वह जल गई। उधर से एक साँप निकला। उसने शिकारी को डस लिया। यह देखकर हिरनी अपने बच्चे को लेकर भाग गई।

——

तेरहवाँ परिच्छेद

कर्म-मार्ग

बिना कर्म के सब कुछ व्यर्थ है

सिर्फ़ ज्ञान प्राप्त कर लेने से मनुष्य का कर्तव्य पूरा नहीं होता। यदि मनुष्य ने कर्म करना नहीं सीखा तो उसका बाक़ी सब कुछ सीखा हुआ व्यर्थ हो जाता है। भगवद्गीता के अध्याय ३ के श्लोक ४, ५ आदि में कहा गया है—"बिना कर्म के कोई मनुष्य रह नहीं सकता। और, बग़ैर कर्म के कोई भी मनुष्य कर्म के फन्दे से निकल नहीं सकता।" आगे चलकर श्लोक २० में बताया गया है—"जनक आदि ने कर्म करके ही सिद्धि प्राप्त की थी।"

ज्ञान और कर्म

कर्म और ज्ञान पर विचार करते हुए प्रश्न उठता है—"दोनों में से कौन अच्छा है?" भगवद्गीता के अध्याय ५ के श्लोक ४ और ५ में उत्तर दिया गया है—"ज्ञान-योग और कर्मयोग वास्तव में एक ही हैं। मूर्ख ही इन्हें जुदा-जुदा समझते हैं। जन साधारण के लिए बग़ैर कर्म के अकेले ज्ञान-मार्ग पर चलना बहुत कठिन है।" एक राजा ने शत्रु पर आक्रमण किया। उसका मन्त्री शत्रु से मिल गया। फलतः उसे राज-पाट, स्त्री आदि छोड़कर भागना पड़ा। यद्यपि उसे ज्ञात था कि उसकी स्त्री और मित्रों ने उसका साथ छोड़ दिया है तथापि मन उनकी ओर लगा रहने से वह दुःख में पड़ा रहता।

कर्म और ज्ञान एक-दूसरे के अन्दर मिला हुआ फल देते हैं। जब अन्धा लूले को कन्धे पर उठाता है तभी वृक्ष से फल तोड़कर दोनों खा

सकते हैं। बग़ैर ज्ञान के कर्म अन्धे के समान है और बग़ैर कर्म के ज्ञान लूले के समान है।

एक व्यक्ति ने किसी देव को अपने वश में कर लिया। देव ने उससे यह शर्त की—"आप जो कुछ माँगेंगे मैं वही प्रस्तुत कर दूँगा। परन्तु मुझे हर समय आपको कुछ न कुछ काम बताना होगा। अगर आप मुझे हर वक़्त काम न बतायेंगे तो मैं आपको खा जाऊँगा।" शर्त मंज़ूर कर ली गई। जब वह आदमी उस देव से अपनी सभी आवश्यकताएँ पूरी करवा चुका तब देव के लिए उसे कोई काम न नज़र आया। वह डर के मारे भाग निकला। देव उसका पीछा कर रहा था। उस शख़्स को रास्ते में एक साधु मिला। साधु ने उससे भागने का कारण पूछा। अपनी मुसीबत बतलाने पर साधु ने उसे इलाज सुझाया—"ज़मीन में एक बाँस गाड़ दीजिए। देव जब दूसरे कामों से निपट जाय तब उसे बाँस के ऊपर-नीचे चढ़ने-उतरने की आज्ञा दे दें।" इस तरकीब से उसका छुटकारा हुआ। मनुष्य का मन भी उस देव के समान है। यदि मनुष्य इसे कोई काम न बताये तो यह मनुष्य को ही खाने को दौड़ता है। कर्म-मार्ग ही इसके लिए बाँस है जिसके द्वारा इससे बचाव हो सकता है।

भगवद्गीता के अध्याय ३ के श्लोक ६ में बताया गया है—"इन्द्रियों को बाहर से रोककर मन के विषयों का ध्यान करना ठगों का काम है।" मनुष्य का स्वभाव भी उससे कर्म करवाता है। ज्ञानियों के लिए इस कारण भी कर्म करना आवश्यक है कि दूसरे लोग उनका अनुकरण करते हैं। भगवान् कृष्ण कहते हैं—"यद्यपि संसार में मेरे लिए कुछ भी करना बाक़ी नहीं है फिर भी मैं कर्म करता हूँ जिससे जनसाधारण काम छोड़कर अपने विनाश का कारण न हों।" (अध्याय ३, श्लोक २२ से २४।)

कर्म के द्वारा कर्म का त्याग

कर्म और त्याग की समस्या आने पर भगवद्गीता के अध्याय ५, श्लोक २ में कहा गया है—"यद्यपि संन्यास या त्याग भी अच्छा है, तथापि कर्म-

मार्ग इससे ऊँचा है।" अनेक मनुष्य-कर्म को कीचड़ के समान समझते हैं। कारण, जब कर्म के अन्त में कर्म से ही मुक्ति प्राप्त करनी है, तब कर्म करना पहले कीचड़ से हाथ ख़राब करना और फिर पानी से हाथ धोने के बराबर है। इसका उत्तर यद्यपि विचित्र सा मालूम देता है, तथापि है सच। कर्म से मुक्ति कर्म के द्वारा ही हो सकती है। इसलिए कर्म कीचड़ के समान नहीं है। यह असम्भव है कि मनुष्य कर्म न करे; क्योंकि कर्म करना मनुष्य का स्वभाव है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि इस स्वभाव का ऐसा उपयोग करे कि कर्म के फन्दे से निकल जाय। यही कर्मयोग का सबसे बड़ा रहस्य है।

कर्म के द्वारा स्वार्थ को दूर करना कर्मयोग है। यह बात कठिन है, परन्तु इसका तरीक़ा आसान है। पहले तो सिर्फ़ इतना जानना ज़रूरी है कि कर्म वह करना चाहिए जिसमें दूसरों का भला हो। ऐसा करने से कर्म करनेवाले का भला स्वयमेव हो जाता है। व्यक्तिगत इच्छा धीरे-धीरे कम करके दूसरों की भलाई को अपना उद्देश बना लेना चाहिए। भगवद्‌गीता के अध्याय ३ के श्लोक ११ और १२ में कहा गया है—"जिस प्रकार सूर्य, चन्द्रमा, हवा आदि सब देवता दूसरों की ख़ातिर अपना-अपना काम करके संसार को चलाते हैं उसी प्रकार मनुष्य को चाहिए कि वह भी दूसरों के लिए कर्म करे।" तनिक आगे चलकर श्लोक १९ में बताया गया है—"जो काम अज्ञानी इच्छा में बँधा हुआ करता है ज्ञानी उसे इच्छा छोड़कर करे।"

कर्म से फल की इच्छा निकाल देना

दूसरी मंज़िल में भगवद्‌गीता के अध्याय २ का श्लोक ४७ हमारा पथ-प्रदर्शन करता है। इसमें कहा गया है—"तुम्हारा कर्त्तव्य केवल कर्म करना है; फल की इच्छा रखना नहीं।" जब मनुष्य सभी काम पर-उपकार की ख़ातिर करता है तब क्या हुआ यदि उसका फल अच्छा है या बुरा? किसी कर्म से दुःख तभी होता है जब कर्म के साथ फल की इच्छा मिली होती है। मुआवज़ा की इच्छा रखकर किसी का भला करना एक

प्रकार की दूकानदारी है। कर्म करने का उद्देश संसार की ऐसी भलाई न होनी चाहिए जो नज़र न आ सके, बल्कि यह कि न उस कर्म में और न उसके फल में करनेवाले की अपनी उन्नति का विचार विद्यमान हो। इस प्रकार कर्मयोग का वास्तविक उद्देश पूरा हो जाता है और हमारी मुश्किल हल हो जाती है। काम करता हुआ मनुष्य कर्म से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। भगवद्गीता के चौथे अध्याय के श्लोक १८ में एक पहेली का उल्लेख है—"वही पूरा ज्ञानी है जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है।" बात साफ़ है; निष्काम कर्म में त्याग और ज़ाहिरा त्याग में कर्म या मन का फँसना समझना ज्ञान है।

कर्मयोग का रहस्य निःस्वार्थपरता की शिक्षा देते हुए मुक्ति का रास्ता बताता है। जब कर्म समझकर कर्म करने की आदत पड़ जाती है तब अन्दर की ख़ुदी स्वयमेव मर जाती है और आदमी ब्रह्मानन्द को प्राप्त करने का भागी बन सकता है। कर्मयोगी इस बात की परवा नहीं करता कि संसार उसे क्या कहता है। फल का अच्छा या बुरा होना उसको सुख या दुःख नहीं देता, प्रशंसा या निन्दा उसे प्रसन्न या अप्रसन्न नहीं कर सकती।

गीता-ज्ञान का वास्तविक उद्देश्य

भगवद्गीता के अध्याय १२ के श्लोक १८ और १६ में बड़े सुन्दर ढंग से एक सच्चे कर्मयोगी का वर्णन किया गया है—"न वह ख़ुश होता है न रंज करता है, न इच्छा करता है न परहेज़ करता है। वह अच्छे और बुरे, दोनों, से परे हो जाता है। स्तुति-निन्दा, मान-अपमान, सरदी-गरमी, सुख-दुःख और मित्र-शत्रु के विचार से भी आगे हो जाता है।"

भगवद्गीता में सभी मार्गों का उल्लेख है। परन्तु इन सबमें प्रधान कर्म-मार्ग को ही माना गया है। अध्याय २ के श्लोक ३६ में भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—"अभी तक तुमने ज्ञान-योग ही सुना है। अब मैं तुम्हें कर्मयोग बतलाता हूँ जिसके फल-स्वरूप तुम्हें व्यवसायात्मक बुद्धि प्राप्त होगी।"

अध्याय २ के श्लोक ३१, ३२, ३३ और ३४ में कर्म करने के बारे में युक्तियाँ दी गई हैं। इनका समर्थन ३८, ३६, ४० और ४१ में बड़े ज़ोर के साथ किया गया है। अध्याय ३ के श्लोक २१, २२ आदि में इसी बात पर ज़ोर दिया गया है। अन्त में जाकर, अध्याय १८ के श्लोक ७२ में, सारे ज्ञान के विस्तार के बाद, भगवान् कृष्ण अर्जुन से पूछते हैं—"क्या अज्ञान से उत्पन्न हुआ तुम्हारा मोह दूर हुआ है या नहीं !" इसका उत्तर (श्लोक ७३) अर्जुन यों देता है—"मेरा मोह दूर हो गया है। मुझे सत्य-ज्ञान मिल गया है। अब मैं वही करूँगा जो आप आज्ञा देंगे।" यह उद्देश है जिस पर भगवद्गीता हमको ले आती है।

उपनिषद् और निष्काम-कर्म

उपनिषदों में निष्काम कर्म करने पर बहुत ज़ोर दिया गया है। छांदोग्य में एक कथा है जिसमें निष्काम कर्म के महत्त्व को प्रकट किया गया है। एक बार इन्द्रियों और विषयों में परस्पर युद्ध हुआ। इन्द्रियाँ देवताओं और विषय दैत्यों के समान हैं। इस मुक़ाबले में इन्द्रियाँ हारने लगीं। अब उन्होंने अपना नेता चुनने का विचार किया। पहले आँखों को नेता बनाया गया। यह देखकर असुरों ने ख़ूबसूरत चीज़ें सामने रख दीं। आँखें उधर फँस गईं, इसलिए इन्द्रियाँ हार गईं। फिर उन्होंने कानों को चुना। असुरों ने मीठे-मीठे स्वर और राग शुरू कर दिये। कान उनमें उलझ गये। तब उन्होंने नाक को नेता बनाया। वह सुगन्धमय वस्तुओं में फँस गया। अन्त में उन्होंने प्राणों को अपना नेता घोषित किया। प्राणों में कोई स्वार्थ न था। वे किसी प्रकार असुरों के दाँव में न फँसे। देवताओं की जीत हुई।

प्राणों के समान निःस्वार्थ होने से ही मनुष्य संसार के युद्ध में विजय लाभ कर सकता है। प्राणवत् होना ही देवत्व है।

स्व-कर्तव्य-पूर्ति ही बड़ा कर्मयोग है

महाभारत में ऐसी कई कथाएँ पाई जाती हैं जो कर्म के महत्त्व को जतलाती हैं। उनमें से एक यों है—एक नवयुवक योगी वृक्ष के नीचे

बैठा था। ऊपर से एक पंछी ने बीट कर दी। योगी ने क्रोध-पूर्ण दृष्टि से ऊपर देखा। वह पक्षी जलता हुआ नीचे आ गिरा। वही योगी एक दिन भिक्षा माँगता हुआ किसी गृहस्थ के घर पहुँचा। गृहिणी उस समय अपने रुग्ण पति की सेवा में संलग्न थी। भिक्षा लाने में उसे कुछ देर हो गई। जब वह भिक्षा देने लगी तब योगी उसकी तरफ़ भी लाल आँखों से देखने लगा। स्त्री ने देर का कारण बताकर क्षमा माँगी। परन्तु योगी शान्त न हुआ। इस पर वह बोली—"महाराज, यहाँ कोई चील-कौए नहीं हैं जो आपके इस प्रकार देखने से जल जायँगे।" योगी हैरान हो गया। देवी से उसने ज्ञान सीखना चाहा। स्त्री ने काशी में एक क़साई का पता बताया जो प्रकट में नीच कर्म करने पर भी वास्तव में ज्ञानी था।

अपना-अपना कर्म ही सबसे बड़ा योग है।

स्त्री के लिए कर्मयोग

स्त्री के लिए सबसे बड़ा योग उसका पतिव्रत-धर्म है, यह बात सावित्री की कथा से भली भाँति प्रकट होती है। सावित्री एक राजा की लड़की थी। वह बड़ी पतिव्रता थी। एक अल्पायु मुनि-कुमार सत्यवान् से उसका विवाह हुआ था। ब्याह से एक वर्ष बाद सत्यवान् की मौत हुई। यमराज स्वयं उसके प्राण लेने आया। लेकिन सावित्री ने अपने पति-परायणता-रूप तप से यमराज को प्रसन्न कर सत्यवान् को पुनर्जीवित करा लिया।

अब्राहम लिङ्कन और कर्मयोग

कई अन्य स्थानों में भी हमको कर्म के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। अब्राहम लिङ्कन अमेरिका का सबसे बड़ा और प्रसिद्ध राष्ट्रपति था। घोड़े पर सवार वह अकेला जा रहा था कि रास्ते में उसने एक सूअरी को कीचड़ में फँसा हुआ देखा। वह निकलने की कोशिश तो करती थी, परन्तु निकल न सकती थी। लिङ्कन घोड़े से उतर पड़ा। बड़ी मुश्किल से उसने सूअरी को निकाला। इस प्रयत्न में उसके कपड़ों पर कीचड़ के दाग़ लग गये। फिर घोड़े पर सवार होकर वह राष्ट्र-सभा में चला गया। कुछ सदस्यों ने कीचड़ लगने का कारण पूछा। इस पर उसने सारी बात बताई। इसे सुन-

कर वे सदस्य कहने लगे--"आप बड़े दयालु हैं जो सूअर को भी दुःख में न देख सके।" लिङ्कन ने उत्तर दिया—"मैंने यह प्रयत्न उसका दुःख दूर करने के लिए नहीं किया था। इसमें मेरा स्वार्थ था। मैं अपने मन के क्लेश को दूर करना चाहता था। उसका दुःख मुझे आ लगा। उससे छुटकारा पाना मेरे लिए ज़रूरी था।"

मौलाना रूम और काबा

मौलाना रूम ने एक शेर लिखा है जिसका अर्थ यह है—"दिल को क़ाबू में कर; यह बड़ा हज है। हज़ारों काबों की निस्बत एक दिल को क़ाबू में करना कहीं बेहतर है।" मौलवियों ने मौलाना रूम को काफ़िर क़रार दिया। फलतः उसके ख़िलाफ़ फ़तवा पास करने की तैयारी होने लगी। अपनी सफ़ाई में उसने इस शेर का कारण बतलाते हुए यह कथा सुनाई—"एक बार मैं हज करने के लिए काबा गया। लेकिन वहाँ मैंने काबा को मौजूद न पाया। इधर-उधर से पता लिया, जिधर काबा गया था उधर मैं भी चल पड़ा। रास्ते में काबा मिल गया। मैंने जब उसके उधर जाने की वजह पूछी तो उसने बताया कि वह एक बुढ़िया के स्वागत के लिए गया था।" इस पर मुझे उस बुढ़िया को देखने का शौक़ पैदा हुआ। उसकी सेवा में उपस्थित होकर मैंने उससे पूछा—'क्या कारण है कि वह काबा, जिसके पास लाखों आदमी जाते हैं, आपके स्वागत के लिए आया था?' वृद्धा ने उत्तर दिया--'मुझे इसका कुछ भी ज्ञान नहीं।' तब मैंने कहा--'आख़िर आपने बड़े पुण्य का कोई काम किया होगा।' वृद्धा बोली--'मुझसे और तो कुछ हुआ नहीं। हाँ, अभी आते हुए रास्ते में मैंने एक कुत्ते को कुएँ के मुँह के गिर्द फिरते देखा। वह प्यास से हाँफ रहा था। कुआँ बहुत गहरा था। मैंने पत्तों का एक दोना तैयार किया और अपने कपड़े फाड़कर डोरी बनाई। परन्तु डोरी छोटी निकली; दोना पानी तक न पहुँचा। जब कोई कपड़ा न रहा तब मैंने सिर के बालों को उखाड़कर एक रस्सी बनाई और पानी निकालकर कुत्ते को पिलाया।' यह कथा सुनकर मैंने अपने दिल में

सोचा कि जब एक तुच्छ पर दया करने से काबा ने उस बुढ़िया का इतना मान किया तब आदमी का दिल हासिल कर लेना निश्चय ही काबा के हजों से बेहतर है।"

युधिष्ठिर और कुत्ता

इसी प्रकार का, परन्तु इससे कहीं बढ़कर, सुन्दर दृष्टान्त युधिष्ठिर का है। राजपाट करने के पश्चात् पाँचों भाइयों ने यह निश्चय किया कि हिमालय की बर्फ़ में जाकर गल जायँ। द्रौपदी को साथ लेकर वे सब हिमालय की ओर चल पड़े। उस रास्ते पर चलते हुए पीछे मुड़कर देखना पाप समझा जाता था। सबसे पहले द्रौपदी भूख और प्यास के कारण थककर रह गई। उसने प्राण छोड़ दिये। फिर आगे चलते-चलते पहले तो नकुल और सहदेव मृत होकर गिर पड़े, तब भीम और अर्जुन। अब युधिष्ठिर अकेला रह गया। एक कुत्ता शुरू से उसके साथ चला आ रहा था। अन्त में युधिष्ठिर स्वर्गलोक के द्वार पर पहुँच गया। उसके लिए दरवाज़ा खोला गया। युधिष्ठिर ने कुत्ते को अन्दर प्रवेश करने के लिए इशारा किया। इस पर पहरेदारों ने कहा—"नीच कुत्ता स्वर्गलोक में कैसे प्रविष्ट हो सकता है!" युधिष्ठिर बोला—"परन्तु मैं तो अपने साथी को छोड़कर अकेला इस लोक में पाँव न रक्खूँगा।" बहुत वाद-विवाद के पश्चात् कहा गया—"केवल एक शर्त पर कुत्ता अन्दर जा सकता है; वह यह कि अपने सारे पुण्यों का फल आप कुत्ते को दे दें।" ज्योंही युधिष्ठिर ने इसे स्वीकार किया त्योंही सामने से परदा हट गया और दृश्य बदल गया। सभी लोकों में युधिष्ठिर की जयजयकार होने लगी। द्रौपदी और चारों भाई युधिष्ठिर के सामने खड़े थे। कुत्ता धर्मराज के रूप में हाथ जोड़कर युधिष्ठिर के साथ था।

——

चौदहवाँ परिच्छेद

मत-मतान्तर

मज़हब का तत्त्व

मज़हब का असली और सच्चा तत्त्व तो यह है कि किसी प्रकार मनुष्य सर्वात्मा को अपने अन्दर अनुभव करके उसके साथ अपने सम्बन्ध को पहचान सके। यही ज्ञान है और यही कर्म, भक्ति आदि का उद्देश है। यदि हम मज़हब का तथ्य इस अर्थ में जान लें तो मज़हब के नाम पर पारस्परिक विद्वेष की अग्नि क्यों भड़के। वस्तु-स्थिति यह है कि मज़हब या रिलिजन का अर्थ कुछ और ही समझा जाता है। संस्कृत या हिन्दी में मज़हब के लिए कोई शब्द नहीं है। बात यह है कि इस देश में कभी कोई मज़हब न था। मज़हब का तत्त्व या बीज तो अनादि है और यहाँ वह न केवल मौजूद था, बल्कि यहीं से वह शेष संसार में फैला। परन्तु विभिन्न मज़हब मनुष्य की कल्पनाएँ हैं और वे कुछ ही समय से शुरू हुए हैं। ईसाई मज़हब को ही लीजिए। इसकी आजकल सैकड़ों शाखाएँ हैं, यद्यपि आरम्भ में यह एक था। इसलाम की सभी शाखाएँ एक ही मज़हब से निकली हैं। वृक्ष का तना एक होता है, शाखाएँ असंख्य। इसी प्रकार वर्त्तमान विभिन्न मज़हब वास्तविक मज़हब के भिन्न-भिन्न रूप हैं।

मज़हब का अर्थ

'मज़हब'-शब्द अरबी भाषा के उसी धातु से निकला है जिससे 'तहज़ीब' निकला है। अँगरेज़ी शब्द 'रिलिजन' का अर्थ विश्वास है। हिन्दी भाषा में इसके लिए या तो मत शब्द इस्तेमाल किया जाता है या धर्म (कर्त्तव्य के अर्थ में)।

वेदों तथा उपनिषदों का अध्ययन बहुत शिक्षाप्रद है। इनसे मालूम होता है कि किस प्रकार मनुष्य-सृष्टि के आदि-ऋषि, जिनकी बुद्धि तथा हृदय शीशे की तरह साफ़ थे, अनन्त ब्रह्मांड को अपने सामने फैला देखकर महान् आश्चर्य अनुभव करते हैं और किस प्रकार उसके अन्दर खोज करते-करते वे अन्त में ब्रह्म तक पहुँचते हैं। वेद में कई मन्त्र इस प्रकार के मिलते हैं—"कस्मै देवाय हविषा विधेम ?" अर्थात् हम किस देवता के लिए आहुति दें ?

उपनिषदों के अन्दर प्रश्नोत्तर का सिलसिला बड़ा उत्तम और मनोरंजक है। ऋषि सबसे पहले बाह्य संसार से चलकर अन्त में उसके अन्दर काम करती हुई शक्ति—ब्रह्म—तक पहुँचे। उनके दार्शनिक विचार साधारण होकर विशेष सिद्धान्तों के रूप में संसार में फैल गये।

मज़हब के विभिन्न अङ्ग

ये मज़हब क्या हैं ? प्रायः हरएक मज़हब इन पाँच अंगों से बनता है—राजनीति, दर्शन, आचार-नीति, व्यक्तिगत क़िस्से और कुछ अज्ञात बातों पर विश्वास। सब मज़हबों के एक हिस्से का सम्बन्ध राजनीतिक और सामाजिक तथ्यों से होता है। इँगलिश चर्च तो राजनीतिक संस्था सी है जिसका प्रधान इँग्लैंड का सम्राट् है। दूसरे हिस्से में नैतिक उपदेश इत्यादि होते हैं जिनको बताकर उस मज़हब की उत्तमता को प्रकट करने का प्रयत्न किया जाता है। हरएक मज़हब ने आत्मा के आरम्भ और अन्त के विषय में अपना मत बना रक्खा है। यह उसका दर्शन है। इनके अतिरिक्त प्रत्येक मज़हब में उसके प्रवर्त्तक तथा नेताओं के बारे में क़िस्से-कहानियाँ, सच्चे या अतिरंजित भी, पाये जाते हैं।

किसी जाति या राष्ट्र की राष्ट्रीयता या जातीयता उसकी भाषा, साहित्य, इतिहास, दर्शन आदि अंगों से बनी होती है। पेगन* कही जानेवाली

---

* पेगन = Pagan, वे लोग जिनको न तो जिहोवा में विश्वास है, न ईसा और अल्लाह में; अर्थात् जो मज़हब की दृष्टि से न यहूदी हैं, न ईसाई और न मुसलमान। (सं०)

प्राचीन जातियों की सभ्यता और वर्तमान मज़हबों—यहूदियों के मज़हब, ईसाइयत और इस्लाम—में इतना अन्तर है कि ये मज़हब अज्ञेय बातों में विश्वास पर बहुत ज़ोर देते हैं और प्राचीन जातियाँ अपनी रीतियों पर। इस फ़र्क़ को छोड़कर देखें तो पेगन सभ्यता और वर्तमान मज़हब के अर्थ एवं प्रयोग एक से मालूम पड़ते हैं।

एक नीति-शास्त्र कहता है—"जो मनुष्य धर्म की रक्षा करता है, उसकी रक्षा धर्म करता है। जो मनुष्य धर्म को मारता है, धर्म उसका नाश कर देता है।" राष्ट्र का धर्म भी राष्ट्र का रक्षक है। मज़हब और सभ्यता भी राष्ट्र के रक्षक हैं। वास्तव में धर्म, मज़हब, तहज़ीब या सभ्यता का अर्थ एक ही है।

हमारा मज़हब हमारा क्योंकर हुआ ?

जिसे हम अपना मज़हब कहते हैं उसके लिए हम सब कुछ बलिदान करने पर तैयार हो जाते हैं। परन्तु इस बात पर बहुत कम लोग ध्यान देते हैं कि उनका मज़हब क्योंकर उनका है। जिस मज़हब को हम अपना समझकर उससे इतना प्यार करते हैं उसके चुनने में हमारा प्रायः कोई हाथ नहीं होता। प्रायः हमारे माँ-बाप का मज़हब ही हमारा मज़हब हो जाता है। बचपन में विशेष विचार-क्रम हमारे दिमाग़ पर ऐसा जम जाता है कि हम अपने जीवन में बुद्धि तथा विद्या-सम्बन्धी चाहे जितनी उन्नति करने पर भी उन विचारों से पीछा नहीं छुड़ा सकते। हमारा समाज उसी प्रभाव को दृढ़ करता है। अपने मज़हब के साथ लोगों का लगाव इतना ज़्यादा हो जाता है कि जो कुछ उसके अनुसार न हो वह उन्हें बुरा मालूम देने लगता है। यही नहीं, अन्य मज़हबों से घृणा भी हो जाती है। यह मनुष्य के तअस्सुब या मज़हबी पक्षपात की नींव है। इसी कारण संसार में मज़हबी असहिष्णुता फैली है।

मज़हबी पक्षपात और घृणा

इस युग में प्रकट रूप से मज़हब के नाम पर वे लड़ाइयाँ और ख़ून-ख़राबी नहीं हुई जो पिछले ज़माने में होती रही है। इसलिए हम

समझने लग जाते हैं कि दुनिया उन्नति कर गई है, मज़हबी अत्याचार की पुनरावृत्ति का कोई डर नहीं। लेकिन यह केवल नुमाइशी बात है। असल में हर एक मनुष्य अपनी शक्ति को प्रायः उन्हीं कामों में ख़र्च करता है जो या तो प्रेम-वश किये जाते हैं या घृणा के कारण करने पड़ते हैं। एक मज़हब के कई करोड़ मनुष्य शेष सभी मनुष्यों से मज़हब के कारण द्वेष रखते हैं। संसार में सबसे अधिक घृणा की सृष्टि मज़हबी मतभेद के कारण होती है। इसका इलाज भगवद्गीता में बताया गया है। श्रीकृष्ण कहते हैं--"सभी रास्ते मुझ तक आते हैं। जो जिस रास्ते से आता है उसे मैं उसी रास्ते से स्वीकार करता हूँ।" यह सच्ची सहिष्णुता है जो अन्यत्र कहीं नहीं दिखलाई देती।

मज़हबों का विस्तार

प्राचीन जातियाँ भी जहाँ-जहाँ जाती थीं, उनकी सभ्यता की अच्छी बातें अन्य जातियाँ स्वयमेव ग्रहण कर लेती थीं। परन्तु जब से वर्तमान मज़हबों ने सभ्यता का स्थान ले लिया है तब से उसके प्रसार के तरीक़े विचित्र से हो गये हैं। यद्यपि श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में अपनी भक्ति तथा प्रेम पर ज़ोर दिया है परन्तु यह सब एक प्रकार से रूपक है। 'मैं' का अर्थ वहाँ आत्मा है। बौद्धमत संसार में सबसे पहला मज़हब है जिसमें गौतम बुद्ध ने अपने नाम पर मज़हब जारी करके प्रचार को फैलाव का साधन बनाया। उनका अनुकरण कर राजाओं के बेटे-बेटियों तक ने धर्म-प्रचार का काम किया।

बौद्ध मत के बाद ईसाई मज़हब ने अपने आपको फैलाने में प्रेम तथा नम्रता से बहुत काम लिया, साथ ही तलवार से भी कम काम नहीं लिया। इसलाम ने तो अपने फैलाव के लिए प्रायः तलवार का ही सहारा लिया। समय आने पर ईसाइयत और इसलाम की तलवारों का मुक़ाबला हुआ। आठवीं शताब्दी के पहले भाग में स्पेन को जीतने के पश्चात् मुस्लिम फ़ौजें फ़्रांस पर चढ़ गईं। तब सारी ईसाई जातियाँ मुक़ाबले के लिए तैयार हो गईं। पेरिस के पास ही इसलाम और ईसा-

इयत का निर्णायक युद्ध हुआ, जिसके परिणाम के सम्बन्ध में प्रसिद्ध अँगरेज़ ऐतिहासिक गिबन यों लिखता है—"यदि इस युद्ध में इसलाम जीत जाता तो आज आक्सफ़र्ड और कैंब्रिज के विश्वविद्यालयों में अँगरेज़ विद्वान् मुसलिम विद्यार्थियों को क़ुरान पढ़ाते होते। सचमुच चार्ल्स मारटल ने योरप को इस ग़ज़ब से बचा लिया।"

मज़हबों के फैलाव के साधन

यदि आज वर्तमान मज़हबों के रखने में लोगों का अपना हाथ नहीं है तो यह देखना बाक़ी है कि जिन लोगों ने ये मज़हब ग्रहण किये, उन्होंने क्या सोच-विचार के बाद ऐसा किया था। विभिन्न मनुष्यों और जातियों ने जिन प्रभावों के अधीन मज़हबी परिवर्तन स्वीकार किये, वे आश्चर्यजनक हैं। हमारा आश्चर्य और भी बढ़ जाता है जब हम देखते हैं कि यद्यपि मज़हब रखनेवाले लोग अपने-अपने मज़हब से इतना प्रेम करते हैं, फिर भी इन परिवर्तनों को पैदा करनेवाली सबसे बड़ी शक्ति तलवार या युद्ध में विजय है। तलवार की ताक़त ने मिस्रवासियों और ईरानवासियों जैसी दो पुरानी जातियों को मुसलमान बनाया तो जर्मनी को ईसाई बनने को बाध्य किया।

विवाह-सम्बन्ध ने भी मज़हबी परिवर्तन में बड़ा भाग लिया है। फ्रांस और इँग्लेंड के इतिहास में इसके कई उदाहरण मिलते हैं।

अज्ञानता के युग में चमत्कारों के क़िस्से-कहानियों ने भी मज़हबी तबदीली में बहुत काम किया है। प्रचारकों और मिशनरियों के त्यागमय जीवन भी इसे सहायता देते रहे हैं। स्कूलों और अस्पतालों को भी मज़हब फैलाने का साधन बनाया गया है। भारत में अत्यधिक ग़रीबी के कारण अकाल के दिनों में अनाथ बच्चों को कैसे क़ाबू में किया जाता है!

इन बातों पर जितना अधिक विचार किया जाय उतना ही यह तथ्य अधिक स्पष्ट होता है कि जिन लोगों ने इन प्रभावों के अधीन होकर अपना मज़हब बदला है, उन्होंने न तो कोई नैतिक उन्नति की है, न मज़हब के चुनने में सोच-विचार से कुछ काम लिया है।

विभिन्न मज़हबों का स्रोत

मज़हबों की तुलनात्मक विद्या* इस परिणाम पर पहुँची है कि विभिन्न मज़हब एक ही स्रोत से निकले हैं और इनकी प्रकट भिन्नताएँ वास्तव में उन्हीं सिद्धान्तों के उलट-पलट और बिगड़े हुए रूप हैं।

सबसे प्राचीन काल में भारत, बेबेलोनिया और मिस्र ने उन्नति की थी। इनकी सभ्यताओं के अन्दर बहुत हद तक पारस्परिक समानता दीख पड़ती है। जीवात्मा का आवागमन, समाज की वर्ण-व्यवस्था, देवताओं का पूजन—ये बातें सबमें मिलती हैं। फ्रांसीसी विद्वान् जकालिये† ने अपनी "भारत में बाइबल"‡ नाम की पुस्तक, में कई अकाट्य युक्तियों से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अपने मज़हब और क़ानून में प्राचीन मिस्र-वासियों ने हिन्दू धर्मशास्त्रों का अनुकरण किया है। इन बातों को यहूदियों ने मिस्र में निर्वासन के समय सीखा और अपनी तौरेत में दर्ज किया। इसके साथ ही यहूदी क़बीले ने बेबेलोनिया की सभ्यता को भी अपने अन्दर जज़्ब कर लिया। फलतः चिरकाल तक उनमें देवताओं का पूजन प्रचलित रहा। देवताओं के संघर्ष में मॉलाक जेहोवा§ अन्त में जीत गया और वह सबसे बड़ा माना जाने लगा।

ईरानियों और हिन्दुओं का सम्बन्ध

प्राचीन ईरानियों का भारतीय आर्यों से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था। एक विद्वान् डार्मेस्टेटर‖ का कहना है कि ज़ेंद-अवेस्ता की शैली और विषय वेद से बहुत मिलते हैं। पारसी मत की रीतियों—होम, अग्नि-पूजा, पवित्र सूत्र (यज्ञोपवीत की तरह) आदि—से सिद्ध होता है कि दोनों सभ्यताएँ किसी समय एक थीं। ईरानियों ने यहूदी मज़हब पर

---

* मज़हबों की तुलनात्मक विद्या = Comparative Theology (कम्पैरिटिव थियालोजी)। † जकालिये = Jacalliot. ‡ भारत में बाइबल = Bible in India. § मॉलाक जेहोवा—Malloc Jehova ‖ डार्मेस्टेटर = Darmesteter ।

प्रभाव डाला। यूनान और इटली में भी उन्होंने अपनी सभ्यता फैलाई। यूनान और इटली में, जो योरप में सभ्य देश थे, ईसाई बनने से पूर्व, मिथ्र देवता की पूजा प्रचलित थी। यही देवता वेदों में मित्र कहलाता है जिसका अर्थ सूर्य्य है। इटली के लोगों का सबसे बड़ा त्यौहार इस देवता की जातीय पूजा थी जो दिसम्बर मास के अन्त में, सूर्य के उत्तरायण के समय, की जाती थी। बाद को ईसाइयों ने हिकमत से इस त्योहार को ईसा का कल्पित जन्म-दिन बताकर क्रिसमस का त्यौहार बना लिया।

बौद्धमत का प्रभाव

ईसा के जन्म से कुछ समय पूर्व बौद्ध प्रचारकों ने ईरान, सीरिया आदि में अपने विचारों का पर्याप्त प्रचार किया। अफ़ग़ानिस्तान तो पूर्ण रूप से बौद्धमत के अधीन था। इधर बरमा, चीन और जापान में भी बौद्धमत ज़ोर पकड़ रहा था। पक्षपात-रहित विद्वानों की राय है कि ईसा की शिक्षा में जो ऊँचे नैतिक तथा आध्यात्मिक विचार पाये जाते हैं वे गौतम बुद्ध की शिक्षा के प्रचार के फल हैं। मांक्स और नंज़* (अर्थात् भिक्षु और भिक्षुणियाँ), पादरियों की तसबीह या सुमिरनी, गिरजों में मूर्त्तियाँ, मूर्त्ति के सामने धूप-दीप जलाना आदि सभी रीतियाँ बौद्धमत की थीं। सदियों बाद जब योरप के ईसाई पादरी पहले पहल भारत में आये तब मन्दिरों आदि में ये रिवाज देख वे चकित हो गये थे।

बौद्ध मत के निर्वाण, बुद्धि, योग, बुद्धि-युक्त आदि शब्द भगवद्गीता में पाये जाते हैं। बौद्धमत के अर्हत् और भगवद्गीता के स्थित-प्रज्ञ के लक्षण सर्वथा एक से हैं। भगवद्गीता के कई श्लोक, उदाहरणार्थ अध्याय २ का ६६, अध्याय ७ का २६ और अध्याय १२ का १५, अक्षरशः बौद्ध पुस्तकों में हैं।

यहूदी परम्पराएँ और इसलाम

अरब की सभ्यता और राजनीतिक शक्ति को संसार में इसलाम ने क़ायम किया। अरब की प्राचीन सभ्यता बेबेलोनिया की सभ्यता की एक

* मांक्स और नंज़ = Monks and nuns।

शाखा थी। काल के हेर-फेर से यह बिखर चुकी थी। हज़रत मुहम्मद ने एक ऐसी अग्नि उत्पन्न कर दी जिसने लड़ने-झगड़नेवाले पुराने अङ्गों को जलाकर नया जीवन उत्पन्न कर दिया। इसलाम के अन्तर्गत पैग़म्बरी का सिद्धान्त, संसार की उत्पत्ति, आदम और हौवा, दोज़ख़ और बहिश्त की कल्पना, इत्यादि यहूदी मज़हब की बातें हैं। फ़र्क़ इतना है कि यहूदी इन्हें अपने क़बीले के लिए ही समझते रहे और मुसलमानों ने दूसरों के अन्दर इनका प्रचार करके उनको अपने मज़हब में शामिल कर लिया*।

योरप में प्राचीन विद्याओं का पुनर्जन्म

लगभग एक हज़ार वर्ष तक योरप ईसाई मज़हब के प्रभुत्व में रहा। यह योरप के इतिहास का अन्धकार-काल है। ईसाई चर्च ने सभी विद्याओं को अपने क़ब्ज़े में करके इनको भूतल से मिटा देना चाहा। पन्द्रहवीं शताब्दी में जब कुस्तुनतुनिया तुर्कों के हाथ आया तो विद्या-व्यसनी लोग यूनानी और रोमन दर्शन तथा सभ्यता की सभी पुस्तकें अपने साथ लेकर योरप में फैल गये। तब योरप में इन विद्याओं का अध्ययन नये सिरे से शुरू हुआ। इस आन्दोलन को विद्याओं का पुनर्जन्म† कहा जाता है। यदि इस समय पुरानी पेगन सभ्यता योरप में न फैलती तो विचार-स्वातन्त्र्य और प्रकृति-प्रेम का वह भाव कभी न उत्पन्न होता जो योरप की वर्तमान उन्नति के अन्तस्तल में काम करता है। इसी विचार-स्वतन्त्रता के कारण मज़हबी सुधार‡ का बड़ा आन्दोलन शुरू हुआ। यह सुधार के सिद्धान्तों का प्रचार था जिससे अन्त में फ़ान्स की बड़ी क्रान्ति हुई। इसी आधार पर अब योरप में ऐसे विद्वान् विद्यमान हैं जिनकी आँखें खुल गई हैं और जो ईसाई मज़हब के वर्तमान रूप से सन्तुष्ट नहीं हैं।

---

* मज़हब में शामिल करना = Proselytisation (प्रासेलाइटिज़ेशन)।

† विद्याओं का पुनर्जन्म = Renaissance (रेनायसांस)।

‡ मज़हबी सुधार = Renaissance (रिफ़ार्मेशन)।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

सिद्धान्त

सैद्धान्तिक और क्रियात्मक मज़हब

मोटे तौर पर मज़हब के दो बड़े हिस्से हैं—एक क्रियात्मक, दूसरा सैद्धान्तिक। पहले में लोगों के लिए हिदायतें और आदेश रहते हैं; उदाहरणार्थ सच बोलना, सब से प्रेम करना इत्यादि। दूसरे में वे सिद्धान्त होते हैं जिनको मानना मज़हब के अनुयायियों के लिए आवश्यक है; उदाहरणार्थ ईश्वर एक है जो दुनिया को पैदा करता है; वह मनुष्य को ख़ास तरीक़े पर सज़ा और जज़ा—दण्ड और इनाम—देता है, इत्यादि।

जहाँ तक पहले भाग का सम्बन्ध है सभी मज़हब एक जैसे हैं। कोई मज़हब नई बात नहीं सिखलाता। ईसाई प्रचारक कभी-कभी यह कहते हैं कि शत्रु से प्रेम करो। परन्तु ईसा से कई सदियों पूर्व गौतम बुद्ध ने इस सचाई को बड़े अच्छे ढङ्ग पर बताया था—"आनन्द! घृणा से घृणा दूर नहीं होती; वह तो प्रेम से दूर होती है।" यह बात केवल सिद्धांतों के विषय में है जहाँ विभिन्न मज़हबों के प्रकट रूप में एक दूसरे से भिन्नता पाई जाती है। द्वेष रखने या झगड़ा पसन्द करनेवाले मनुष्य के लिए तो ये मतभेद जीवन के लिए पर्याप्त कार्य प्रस्तुत कर देते हैं; परन्तु गहरी नज़र से देखने पर मालूम होता है कि इन प्रकट भिन्नताओं के नीचे एकता की बड़ी लहर चल रही है जो अन्त में सबको एक ही स्रोत तक ले जाती है।

ईश्वर-विश्वास

विभिन्न मज़हबों के वास्ते एक सिद्धान्त, ईश्वर पर विश्वास, सबसे बड़ा है। इस विषय में प्रायः सभी सहमत हैं। ईश्वर क्या है—इसका

जानना तो असम्भव है। इस विषय में भगवद्गीता में जो कुछ कहा गया है, वह सबसे बढ़कर है—"कुछ लोग उसको आश्चर्य से देखते हैं। कुछ उसे आश्चर्य बतलाते हैं। कुछ ऐसे हैं जो उसे आश्चर्य से सुनते हैं। परन्तु सुनते हुए भी उसे कोई नहीं जानता।" हर एक मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार उसका एक नक़शा अपने मन में बना लेता है। संसार में जहाँ थोड़ी-सी एकता है वहाँ भिन्नता इतनी है कि हर एक मनुष्य शकल-सूरत इत्यादि में शेष सभी मनुष्यों से भिन्न है। कई बार आदमी सिर्फ़ चाल से पहचाना जाता है। हर एक की चाल जुदा-जुदा होती है। अक़्ल भी हर एक की अलग-अलग है। इसलिए ईश्वर भी प्रायः सब के लिए भिन्न-भिन्न है। ईश्वर के बारे में असभ्य और सभ्य मनुष्यों की धारणाओं में कितना अन्तर है। बौद्ध, पारसी और मुसलमान के ईश्वर-विषयक दृष्टिकोण में जो भिन्नता है उस पर कुछ कहना अनावश्यक है।

ईश्वर से मनुष्य का सम्बन्ध

दूसरा सिद्धांत ईश्वर के साथ मनुष्य के सम्बन्ध के बारे में है। आम तौर पर सभी मज़हब किसी न किसी प्रकार इसके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं। कोई उसे शासक समझते हैं और उसकी प्रशंसा तथा ख़ुशामद करना आवश्यक समझते हैं। इस कारण विभिन्न मज़हबों ने विभिन्न प्रकार की प्रार्थनाएँ और इबादत के तरीक़े निश्चित कर रक्खे हैं। भगवद्गीता के अध्याय ६ के श्लोक ३०, ३१ तथा ३२ और अध्याय १३ के श्लोक ८ में कहा गया है—"कोई आदमी चाहे कैसा ही पापी हो, जब उसने मेरी ओर आने का निश्चय कर लिया तब वह शीघ्र ही सुधर जाता है। मेरी शरण में आने से पापी, शूद्र, वैश्य और स्त्री, सभी सिद्धि को प्राप्त कर सकते हैं।"

मुक्ति का स्वरूप

तीसरा सिद्धान्त मुक्ति का है। ऐसा मालूम होता है कि पैग़म्बरी या सेमेटिक मज़हबों ने आध्यात्मिक संसार का चित्र अपने सामने भौतिक

संसार को रखकर बनाया है। रूपक के तौर पर इस चित्र का कुछ अर्थ हो सकता है। परन्तु यदि यह कोरी कल्पना है तो फिर इन सिद्धान्तों की ख़ातिर लड़ाई-झगड़े और युद्ध की क्या ज़रूरत? उस कल्पना-चित्र को अक्षरशः सही मानने से कई दोष पैदा हो जाते हैं। यदि सचमुच कोई बहिश्त या दोज़ख़, स्वर्ग या नरक, है तो वह इस दुनिया के क़ैदख़ानों आदि की नक़ल या तो ख़ुदा ने बनाई है या फिर उन लोगों ने ख़ुदाई दस्तूरों पर चलने का प्रयत्न किया है। बहिश्त के बारे में विचार करने पर मालूम होता है कि हर एक देश और हर एक मज़हब के लोग अपने-अपने विचारों तथा परिस्थिति के अनुसार उसका चित्र बना लेते हैं। नारवे आदि देशों के लोग स्वर्ग को रीछों से भरा हुआ समझते हैं ताकि उन्हें वहाँ रीछ का शिकार करने का आनन्द प्राप्त हो। अरब के लोग उसे नहरों और हूरों आदि से भरा हुआ ख़याल करते हैं; क्योंकि उनकी तबीअत को यही चीज़ें पसन्द आती हैं।

जो लोग ईश्वर को एक महान् शक्ति समझते हैं, उनके लिए इस शक्ति से दूर होना अज्ञान है और अज्ञान दुःख है। उसके निकट रहना ज्ञान है और ज्ञान सुख है। इसलिए ईश्वर के चरणों में सदा रहना ही उनकी मुक्ति है। एक वेदमन्त्र में कहा गया है—"उसको जानकर ही हम मृत्यु के समुद्र से पार हो सकते हैं। इसके सिवा और कोई रास्ता नहीं।"

उत्पत्ति का विषय

सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में क़ुरान में कहा गया है कि ख़ुदा ने जब कुन-शब्द कह दिया तो सब कुछ बन गया। बाइबिल में बताया गया है कि पहले केवल शब्द था और शब्द ख़ुदा के साथ था; उससे संसार प्रकट हुआ। मैक्समिलर* ने अपने वेदान्त-विषयक व्याख्यानों में दिखलाया है कि अँगरेज़ी शब्द 'वर्ड' संस्कृत धातु वृ से निकला है जिसका

* मैक्समिलर = Max Muller.

अर्थ बोलना है। इसी से ब्रह्म शब्द बना है और यह ब्रह्म ही संसार का आरम्भ है। भगवद्गीता के अध्याय ८ के श्लोक १३ में कहा गया है—"एक शब्द--ओं--इस ब्रह्माण्ड को प्रकट करता है।" अध्याय १४ के श्लोक ३ में बताया गया है—"महद् ब्रह्म मेरी योनि है। मैं इसमें बीज डालता हूँ और उससे सब कुछ उत्पन्न होता है।" मनुस्मृति में इसे अण्डे के समान बताया गया है। इसी कारण संसार को ब्रह्माण्ड कहा जाता है।

भगवद्गीता के अध्याय ३ के श्लोक १४ और १५ में आया है—"ब्रह्म से वेद, वेद से कर्म, कर्म से यज्ञ, यज्ञ से बादल, बादलों से अन्न और अन्न से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं।" मनुस्मृति में लिखा है कि ब्रह्म दो भागों में विभक्त हुआ--आधा नर और आधा मादा। तौरेत में हव्वा का आदम के पहलू से पैदा किया जाना उसी कल्पना को वैसे ही शब्दों में वर्णन करता है। इस मसले—विचारणीय विषय—के अन्तस्तल में काम करनेवाला विचार भी एक ही स्रोत से निकला मालूम होता है।

बुराई का आरम्भ

ईरानी लोग दुनिया में दो ख़ुदा मानते थे—आहरमज़्द (प्रकाश का देवता) और आहरमन (अँधेरे का देवता)। इस संसार में इन दोनों में परस्पर युद्ध रहता है। एक अच्छाई उत्पन्न कराता है, दूसरा बुराई। यह मत हिन्दू सिद्धान्त से इस प्रकार मिलता है कि हिन्दू शास्त्र ब्रह्म को मानकर संसार में दुःख का कारण माया या अज्ञान को समझते हैं। पारसी लोगों ने ब्रह्म के मुक़ाबले पर अँधेरे की एक शक्ति कल्पित कर ली। माया ही आहरमन की शकल इख़्तियार करके बाद में शैतान का रूप धारण कर लेती है। भगवद्गीता के अध्याय ७ के श्लोक १३, १४ और १५ में कहा गया है—"यह संसार माया के तीन गुणों से ढँपा हुआ है। जो लोग इस माया में फँस जाते हैं वे मुझ तक नहीं पहुँच सकते। मुझे वही पाते हैं जो मेरी इस माया को पार कर जाते हैं।

बलि का विचार

.कुरबानी एक और विचारणीय विषय है। यहूदी लोग अपने .खुदा को प्रसन्न करने के लिए शुरू से ही जानवरों की .कुरबानी करते आये हैं। इसलाम भी .कुरबानी—बलि—को वैसा ही आवश्यक समझता है। ईसाई .कुरबानी को ज़रूरी समझते हैं, परन्तु इसके साथ ही वे यह भी मानते हैं कि मनुष्य-मात्र से .कुरबानी का बोझ उतारने के लिए .खुदा ने अपने इकलौते बेटे—ईसा—को .कुरबान कर दिया। साधारण बुद्धि में भी यह बात नहीं आ सकती कि किसी जीव को मार देने से .खुदा को क्या आनन्द प्राप्त हो सकता है या किसी जानदार को मारने का .खुदा की प्रसन्नता से सम्बन्ध ही क्या हो सकता है। कई हिन्दुओं ने यज्ञ शब्द के अर्थ को उलटा समझकर पशुओं की बलि को भी यज्ञ का एक आवश्यक अङ्ग ठहराया। प्रायः वाममार्ग-मत पर यह दोष लगाया जाता है। भगवद्गीता के अध्याय ३ के श्लोक ६, १०, १२ तथा १३ और अध्याय ४ के श्लोक २६, २७ आदि में स्पष्ट रूप से परोपकार तथा निस्स्वार्थ कामों को यज्ञ नाम दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि सबसे बड़ा यज्ञ मनुष्य के अन्दर अपने लिए पशु-प्रकृति को मारना था। अध्याय ३ के श्लोक ६ में कहा गया है—"प्रजापति ने प्रजा को उत्पन्न करने के लिए स्वयं बड़ा यज्ञ किया है। तुम भी इस यज्ञ के द्वारा फलो-फूलो"।

रीतियाँ या संस्कार

मज़हब के साथ मिली हुई एक चीज़ संस्कार है जो जीवन में परिवर्त्तन पैदा कर सकता है। एक पत्थर पहाड़ पर पड़ा है। वहाँ उसकी कोई हैसियत नहीं। जब उसे वहाँ से ला दीवार में लगाते हैं तब वह एक लाभकारी चीज़ बन जाती है। उसे तराश कर सुन्दर मूर्त्ति बना देने पर लोग उसके सामने सिर झुकाना शुरू कर देते हैं। पत्थर में ये परिवर्त्तन संस्कार के कारण पैदा हुए।

हर एक मज़हब ने ख़ास-ख़ास रस्में या रीतियाँ और संस्कार आवश्यक ठहराये हैं। हिन्दू-समाज में वर्ण-व्यवस्था प्राचीन समय से चली आ

रही है, जैसा कि भगवद्गीता में कहा गया है—"ये वर्ण मुझसे बने हैं। हर एक मनुष्य अपने-अपने कर्म के अनुसार विशेष वर्ण में दाख़िल होता है।" अध्याय १८ के श्लोक ४१, ४२, ४३ और ४४ में वर्ण-धर्म के सम्बन्ध में बड़ी उच्च कोटि की शिक्षा मिलती है। यों तो संस्कार सोलह हैं, परन्तु इनमें से चार मुख्य माने गये हैं—पहला गर्भाधान, दूसरा यज्ञोपवीत, तीसरा विवाह और चौथा मृतक-संस्कार।

मज़हबों के मुक़ाबले पर हिन्दुओं का प्रयत्न

सभी मज़हबों के सिद्धान्त आरम्भ में प्रायः एक से ही होते हैं। उन को मानने के तरीक़ों की दृष्टि से दो बड़े समूह स्पष्ट नज़र आते हैं। एक तो सेमेटिक या पैग़म्बरी समूह और दूसरा आर्य। सेमेटिक विचार यहूदी क़बीले के ख़ानदानी क़िस्सों और उसके हसब-नसब के सिलसिले पर आश्रित हैं। यहूदी लोग अपने कवियों* को, जिन्हें वे पैग़म्बर† कहते थे (दोनों शब्दों का अर्थ एक दृष्टि से एक ही है), ख़ास तौर पर अपना समझते थे। अन्य लोगों को वे कभी अपने क़बीले में शामिल न करते थे। हैरानी की बात है कि एक क़बीले की परम्पराओं को (पुरानी दुनिया में हर एक क़बीले की अपनी-अपनी परम्पराएँ होती थीं) ईसाई और इसलामी दुनिया ने सभी मनुष्यों के लिए ठीक मान लिया है।

इसके मुक़ाबले पर केवल हिन्दू जाति है जिसने प्राचीन आर्य नसल की सभ्यता को बचाये रक्खा है। सबसे पहले उसको बौद्धमत का मुक़ाबला करना पड़ा। एक हज़ार वर्ष तक दोनों का पारस्परिक संघर्ष जारी रहा। कुमारिल भट्ट और शङ्कराचार्य के प्रयत्न से वैदिक धर्म की विजय हुई—अधिकतर इस कारण कि बौद्धमत में कोई ख़ास नई बात नहीं थी। बौद्ध मत ने प्रायः सब कुछ प्राचीन सभ्यता से लिया था। ज्योंही वह इससे निवृत्त हुआ, हिन्दू-धर्म को इसलाम का मुक़ाबला करना पड़ा। इसलाम की एक लहर अफ़्रीका से होकर योरप को गई और दूसरी मिस्र,

---

* कवि = Poet. † पैग़म्बर = Prophet

ईरान और अफ़ग़ानिस्तान को विजित करती हुई इधर हिन्दुस्तान में आई। यह संघर्ष लगभग आठ सौ वर्ष तक जारी रहा। इसमें पञ्जाब, राजपूताना और महाराष्ट्र ने धर्म की रक्षा के लिए त्याग और वीरों के बलिदान में विशेष रूप से भाग लिया। राणा प्रताप, गुरु गोविन्दसिंह और शिवाजी इत्यादि के विषय में ज़्यादा कहना व्यर्थ सा है। इस देश के सभी लोगों को मालूम है कि इन लोगों ने धर्म की रक्षा करने के लिए कितनी ही मुसीबतों का हँसते हुए सामना किया था।

इन दिनों ईसाई मज़हब अपनी पूरी ताक़त से हमारी युगों से बची आ रही प्राचीन सभ्यता को मिटा देने की पूरी कोशिश करता आ रहा है। योरपीय जातियों ने अपने पूरे उत्कर्ष को ईसाइयत की मदद में नियोजित कर दिया है। इस कारण हिन्दुत्व और ईसाइयत का संघर्ष लगातार जारी है। हम हिन्दुत्व को ईसाइयत का डटकर मुक़ाबला करते हुए देख रहे हैं।

सोलहवाँ परिच्छेद

आत्म-स्वतन्त्रता

दैव और पुरुषार्थ

दैव और पुरुषार्थ बड़ा पेचीदा विषय है। ईसाई सम्प्रदाय मनुष्य को काम करने में स्वतन्त्र मानता है तो प्रसिद्ध ईसाई सुधारक काल्विन* के अनुयायी नियति† या दैव में विश्वास रखते हैं। इसलाम के बड़े हिस्से का विश्वास तक़दीर पर है। संसार के दो बड़े सेनानायक सीज़र और नेपोलियन दैव में विश्वास रखते थे। नेपोलियन से एक बार प्रश्न किया गया—"जब आप भाग्य पर इतना विश्वास रखते हैं तब इतना काम और उसकी तदबीरें क्यों करते हैं?" उसने उत्तर दिया—"यह सब भी मुझसे मेरा भाग्य करवाता है। ऐसा करने के लिए मैं बाध्य हूँ।"

मनुष्य स्वतन्त्र भी है और परतन्त्र भी

हिन्दू शास्त्रों में कहा गया है कि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र भी है और परतन्त्र भी। कर्म तीन प्रकार के हैं—प्रारब्ध, क्रियमाण और संचित।

भीष्म पितामह से प्रश्न किया गया—"दैव बलवान् है या पुरुषार्थ?" उन्होंने बड़ा गूढ़ उत्तर दिया—"ध्यान देने पर मालूम होता है कि ये दोनों वास्तव में एक ही हैं। दैव या तक़दीर उस छिपी हुई शक्ति का नाम है जिसका एक प्रकट रूप पुरुषार्थ या तदबीर है।" हमारा प्रारब्ध तीन बड़े अङ्गों से बना है। उनमें से एक प्राकृतिक नियम है। हमने मानव-शरीर धारण कर रक्खा है, यह हमारा प्रारब्ध है। इस पर हमारा कोई अधिकार नहीं। हम सभी दिशाओं में प्रकृति की शक्तियों

---

* काल्विन Colvin. † नियति Predestination (प्रिडेस्टीनेशन)

से घिरे हुए हैं। हम उनका मुक़ाबला नहीं कर सकते। कर्म करने पर उसका फल हमें भोगना ही पड़ता है।

पैतृक गुणों का प्रभाव

प्रारब्ध का दूसरा अङ्ग हमारी विरासत है। यह हम अपने माता-पिता से विरसे में लेते हैं। इस विरासत में न केवल शारीरिक रोग सम्मिलित हैं बल्कि बहुत दर्जे तक नैतिक गुण भी। हमारे स्वभाव और आदतों में बहुत सा भाग हमारे माता-पिता का होता है। इसी कारण हिन्दू-शास्त्र गर्भाधान-संस्कार को आवश्यक बतलाते हैं। इसके साथ ही वे माता के लिए अपनी इच्छा के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि सन्तान उत्पन्न करने के वास्ते विशेष निर्देश करते हैं।

परिस्थिति

प्रारब्ध का तीसरा अङ्ग इर्द-गिर्द के हालात* या परिस्थिति है। जापानी बालक क्यों ख़ास जापानी मालूम देता है? उसका रङ्ग-रूप क्यों जापानी है? वह जापान से क्यों प्रेम करता है? जापान के लिए जीवित रहने में क्यों गर्व समझता है? केवल इस कारण कि उसके इर्द-गिर्द की परिस्थिति ने उसे ऐसा बनाया है। इस बात को उसने सोच-विचार कर चुना या पसन्द नहीं किया है।

राष्ट्रों की अवस्था में प्रायः स्वतन्त्र गवर्नमेन्ट राष्ट्र के नैतिक आचार को ऊँचा और एकतन्त्र गवर्नमेन्ट निम्न बना देती है। यही हाल स्कूल के अन्दर बच्चों का होता है। यदि अध्यापक डराने और मारने वाला हो तो बच्चे स्वभावतः झूठे हो जाते हैं। प्रेम करनेवाला अध्यापक होने पर वे नेक और सत्यवादी बनते हैं। सभी गुणों की जननी दिलेरी है जो ख़राब परिस्थिति के अन्दर कभी पैदा नहीं हो सकती।

स्वतन्त्रता क्या है?

भगवद्गीता के अध्याय ३ के श्लोक २६, २७ तथा २८ में, अध्याय ५ के श्लोक ७, ८ तथा ९ में, अध्याय १३ के श्लोक २९ में, अध्याय १४

---

* इर्द-गिर्द के हालात = Environments (इनवायर्नमेंट्स।)

के श्लोक १६ में और अध्याय १८ के श्लोक ५६ और ६० में कहा गया है—"यह संसार प्रकृति के गुणों का एक खेल है।" अध्याय ११ के श्लोक २८ और २६ में तो स्पष्ट कह दिया गया है—"जैसे नदियाँ समुद्र की तरफ़ बहती हैं और पतङ्गा मजबूर होकर दीये की रोशनी पर जल मरता है वैसे ही ये सब योधा अपने सर्वनाश के वास्ते मेरे मुँह में आ रहे हैं।" वास्तव में हम कर्म करनेवाले नहीं हैं; बल्कि प्रकृति हमसे कर्म कराती है। अठारहवें अध्याय में कहा गया है—"हे अर्जुन, तुम लड़ाई से कभी हट नहीं सकते। तुम्हारा स्वभाव ही तुमसे युद्ध करायेगा।"

भगवद्‌गीता के अध्याय तीसरे के श्लोक १६ से लेकर २५ तक के श्लोकों में यह बात बतलाई गई है—"फल की इच्छा का त्याग कर देने से ज्ञानी वास्तविक स्वतन्त्रता को प्राप्त करता है; इसलिए तुम अपना दिल फँसाये बग़ैर इस कर्म में लग जाओ।" इसी प्रकार अध्याय ४ के श्लोक १४ से १६ में कहा गया है—"इन कर्मों का मुझ पर कोई असर नहीं होता। जो मुझको जान लेता है वह भी कर्म के फन्दे से बच जाता है। जैसे आग बीज के उगने की शक्ति नष्ट कर देती है ऐसे ही ज्ञान कर्म के अन्दर फैलने की शक्ति को नष्ट कर देता है।" जिस मनुष्य में कर्म-रूपी बीज जल गया हो वही कर्म के फन्दे से मुक्त होकर स्वतन्त्र हो सकता है।

सर्वज्ञता

वस्तुतः हमें ईश्वर के अस्तित्व—वह क्या है?—और उसके गुणों का कोई ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए उनको विचार में लाना या उन पर वाद-विवाद करना हमारे सामर्थ्य से बाहर है। अपनी कल्पना से विशेष गुण उसके अन्दर डालकर हम अपने लिए मुश्किल पैदा कर लेते हैं। स्वामी शङ्कराचार्य कहते हैं कि ज्ञान के वास्ते ज्ञाता (जाननेवाला) और ज्ञेय (जानने योग्य चीज़) दो की ज़रूरत है। ब्रह्म की दृष्टि से आत्मा एक ही है। इस कारण ज्ञेय के न होने से ज्ञान का प्रश्न ही उत्पन्न

नहीं होता। भगवद्गीता के अध्याय १३ के श्लोक १७ में भी यही विचार पाया जाता है—"मैं ही ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान हूँ।"

अध्याय ११ के श्लोक ४० में कहा गया है—"तू सबमें है, इसलिए सब तू ही है।" ईश्वर की सर्वव्यापकता का क्या अर्थ है? जो वस्तु सर्वव्यापक है वही सर्व या सब है। ज़र्रे-ज़र्रे के अन्दर वह है। परमाणु के अन्दर वह है। क्या कोई ऐसी चीज़ हो सकती है जिसमें वह न हो? यदि कुछ नहीं तो सब कुछ वही है। सर्वव्यापकता का यह गुण हमारे लिए मुश्किल पैदा कर देता है।

परिस्थिति पर विचार

यदि सामाजिक और भौगोलिक अवस्थाएँ मनुष्य को बनाने में बड़ा हाथ रखती हैं तो इसका अर्थ यही है कि इस सामाजिक समूह में सम्मिलित होने से समाज का हरएक सदस्य भी शेष सब पर अपना प्रभाव डालता है। इस प्रभाव का परिमाण हरएक सदस्य की व्यक्तिगत हैसियत पर अवलम्बित है। लूथर ने बाइबल की एक प्रति पढ़कर कैथालिक सम्प्रदाय के विरुद्ध सुधार-आन्दोलन की नींव रक्खी। एक बार तो उसने ईसाइयत को उसकी जड़ों से हिला दिया। जब एक साधारण मनुष्य भी अधर्म या पाप के लिए सज़ा पाता है तो उसके परिवारवालों पर कई दृष्टियों से प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त हर एक आदमी अपने समाज और परिस्थिति को जब चाहे बदल नहीं सकता।

विरासत ही सब कुछ नहीं है

यदि विरासत और परिस्थिति ही सब कुछ होते तो संसार में हमें इतनी भिन्नता न नज़र आती। एक ही माता-पिता के दो लड़के एक जैसी अवस्थाओं के अन्दर उत्पन्न होते हैं। परन्तु वे रङ्ग-रूप और बुद्धि में एक दूसरे से भिन्न होते हैं। एक ही वृक्ष के दो बीजों से एक सी भूमि पर भिन्न भिन्न रूप और क़द के दरख़्त बनते हैं। हरएक प्राणी का अपना अलग व्यक्तित्व है जो परिस्थिति से ख़ास-ख़ास संस्कार ग्रहण करता है। यह व्यक्तित्व ही उसकी प्रकृति है।

बुद्धि और स्वतन्त्रता

पशुओं में बुद्धि निसर्ग या नैसर्गिक प्रेरणा* की अवस्था है; अर्थात् पशु जो कर्म करते हैं स्वभाव से बाध्य होकर करते हैं। उनके अन्दर नर-मादा के संयोग की इच्छा सिवा नियत समय के कभी उत्पन्न नहीं होती। परन्तु कुत्ता, हाथी और बन्दर आदि समुन्नत पशुओं के अन्दर सोच-विचार के निम्न चिह्न पाये जाते हैं। मनुष्य में यह नैसर्गिक प्रेरणा बुद्धि का रूप ले लेती है। बुद्धि का अर्थ ही विचार है।

पहिचान का होना भी आवश्यक है। यदि मनुष्य को किसी काम के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के बाद उसे करने या न करने का अधिकार न हो तो उसके अन्दर बुद्धि के होने का कुछ अर्थ नहीं। बुद्धि इन्द्रियों के वश में होकर मनुष्य को प्रकृति का ग़ुलाम बना देती है। गीता के अनुसार व्यवसायात्मिका बुद्धि प्राप्त करने पर ही मनुष्य प्रकृति के गुणों पर अधिकार कर सकता है।

दो प्रकार के मनुष्य

मनुष्य दो प्रकार के हैं—(१) उदासीन† (विचार-स्वातन्त्र्य-रहित), और (२) क्रियावान्‡ (स्वयं सोचकर काम करनेवाला)। मनुष्य के मन के दो भाग हैं—(१) ऐच्छिक§, (२) अनैच्छिक‖। ऐच्छिक मन केवल जाग्रत अवस्था में काम करता है, अनैच्छिक हर अवस्था में; चाहे मनुष्य सोया हुआ हो या जागता। नींद में आनेवाले सपने इसी अनैच्छिक मन के काम हैं। बन्दर की तरह यह मन विचारों के एक क्रम से दूसरे की तरफ़ दौड़ जाता

---

* निसर्ग या नैसर्गिक प्रेरणा = Instinct (इन्स्टिंक्ट)।

† उदासीन = Passive (पैसिव)।

‡ क्रियावान् = Active (ऐक्टिव)।

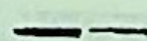
§ ऐच्छिक = Voluntary (वालंटैरी)।

‖ अनैच्छिक = Involuntary (इनवालंटैरी)।

है। इसे भाव-साहचर्य का क़ानून* कहा जाता है। एक बात विचित्र सी मालूम होती है, परन्तु देखने में प्रायः आती है। यदि रात को सोने से पूर्व हम दिल से कह दें कि सबेरे चार बजे जगा देना तो प्रायः नियत समय पर अन्दर से उठाने की आवाज़ आ जाती है। जिन आदमियों के दिल और भी ज़्यादा बढ़े होते हैं वे और भी अधिक प्रभावित होते हैं। ऐसे मनुष्य सम्मोहन या हिप्नाटिज़्म में अच्छे माध्यम बन सकते हैं।

दूसरे प्रकार के मनुष्यों का ऐच्छिक मन बलवान् होता है। जहाँ ऐसे लोग अधिक हों वहाँ हर अवसर या कठिनाई में नेता पैदा हो सकते हैं। परिस्थिति उन्हें नहीं बदलती, बल्कि वे ही परिस्थिति को बदल देते हैं।

भगवद्गीता के अध्यांय ४ का श्लोक ४० बताता है—"जिस मनुष्य का मन अज्ञान और संशय में फँसा होता है वह नष्ट हो जाता है। उसके लिए न इस दुनिया में सुख होता है न उसमें।" श्लोक ४१ में कहा गया है—"जिस मनुष्य ने कर्म-योग की सहायता से कर्मों को जोत लिया है और ज्ञान से संशय को टुकड़े-टुकड़े कर दिया है वही आत्म-उन्नत है, वह कर्मों के बन्धन में नहीं फँसता है।"



* भाव-साहचार्य का क़ानून = Law of association of Ideas (ला आफ़ ऐसोसिएशन आव् आइडियाज़)।

सत्रहवाँ परिच्छेद

धर्म और अधर्म

धर्म और अधर्म* का विषय बहुत पेचीदा है

मज़हब पर ईमान लानेवालों का ख़याल है कि .खुदा अपने क़ानून लोगों के निर्देश के लिए पुस्तक-विशेष द्वारा प्रकट कर देता है। इन क़ानूनों को मानना धर्म है, न मानना अधर्म। ख़याल को स्वीकार करने में बड़ी दिक़्क़त यह है कि विभिन्न युगों और विभिन्न लोगों के लिए .खुदा ने परस्पर-विरोधी हुक्म क्यों जारी किये? इसके अतिरिक्त वर्तमान काल में भी ऐसे व्यक्ति हैं जो पैग़म्बरी का दावा करते। इसका निर्णय कैसे किया जाय कि इनमें सच्चा दावादार कौन है।

आन्तरिक आवाज़ क्या है?

इसी धर्म और अधर्म के प्रश्न का दूसरा बड़ा हल आन्तरिक आवाज़ या अन्तरात्मा बताई जाती है, यद्यपि अन्तरात्मा हमारे सामाजिक शिक्षण तथा परिस्थिति का फल है। हरएक मनुष्य की अन्तरात्मा दूसरे से भिन्न होती है। एक अहले-इसलाम को किसी जानवर का वध करना अन्तरात्मा के विरुद्ध नहीं मालूम देता लेकिन एक जैन को अपने शरीर की जूँ या चारपाई के खटमल मारना भी असह्य है।

अन्दर की आवाज़ सिर्फ़ एक तरह की गूँज होती है जो हमारे एकत्र हुए संस्कारों से उत्पन्न होती है। जिस प्रकार के संस्कार होंगे उसी प्रकार की अन्तरात्मा होगी। स्वयं इसका कोई अस्तित्व नहीं।

---

* धर्म और अधर्म = Right and Wrong (राइट ऐंड रॉंग)।

सार्वजनिक मत का महत्त्व

इस प्रश्न का निर्णय करने का तीसरा मानदण्ड जनसाधारण की राय है जो उनकी रीतियों आदि में पाई जाती है। जिस बात को सार्वजनिक मत अच्छा कहे वह ठीक है, उसके बरख़िलाफ़ ग़लत। किसी मामूली कारोबार के लिए यह राय कसौटी का काम दे सकती है। परन्तु ऐसी परिस्थिति भी आ जाती है जब इसके अनुसार चलने से बड़े ख़तरे का डर होता है। जिन लोगों ने सुक़रात जैसे महात्मा की शिक्षा को समाज के लिए बिगाड़नेवाली बतला कर उसे ज़हर का प्याला पीने पर बाध्य किया उनके सार्वजनिक मत की क़ीमत फूटी कौड़ी भी नहीं हो सकती।

सुनहला नियम

चौथा बड़ा मानदण्ड, जिसे चीन के प्रसिद्ध दार्शनिक कानफ़्यूशियस का बताया जाता है और जिसको बाइबल ने भी पसन्द किया है, यह सुनहला नियम है—"दूसरों के साथ आप वही व्यवहार करें जो आप चाहते हैं कि दूसरे आपके साथ करें।" भगवद्गीता के अध्याय ६ के श्लोक २५ में भी यही कहा गया है—"जो मनुष्य सुख और दुःख में सब जगह सब को अपने जैसा समझता है वही योगी है।"

जहाँ तक सामाजिक बरताव का सम्बन्ध है इससे बेहतर कोई नियम नहीं हो सकता। व्यक्तिगत मामलों में हम स्वतन्त्र हैं परन्तु सामाजिक मामलों में समाज के अधीन हैं। हैकल कहता है—"जो मनुष्य समाज में रहकर उससे लाभ और आनन्द प्राप्त करता है उसका कर्त्तव्य है कि वह समाज के क़ानून को न तोड़े। यदि उसे पूर्ण स्वतन्त्रता की ज़रूरत है तो उसे चाहिए कि समाज से अलग हो जाय।" परन्तु ऐसी परिस्थिति भी आती है जब यह कसौटी काम नहीं दे सकती। इस कसौटी से जीवन के विध्यात्मक* धर्म पूरा करने में कोई मदद नहीं मिल सकती। इससे यह प्रकट नहीं होता कि स्त्री के लिए पवित्रता, ब्राह्मण के लिए

* विध्यात्मक = Positive (पाज़िटिव)।

भूखा रहकर भी धर्म का उपदेश देना, क्षत्रिय के लिए देश तथा जाति के रक्षार्थ प्राणों को सङ्कट में डालना धर्म है।

सुखवाद

पाँचवें वे सुखवादी लोग हैं जो बताते हैं कि मनुष्य को अपना सुख सबसे बढ़कर समझना चाहिए। इस सुखवाद को यूनान में ऐपिक्युरियन* और भारत में चार्वाक-दर्शन कहा गया है। उनकी दृष्टि में सुख का अर्थ विषयों का सुख है। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि साधारणतया मनुष्य का स्वभाव उसे ऐसे कामों की ओर ले जाता है जिनसे उसे सुख प्राप्त हो सके। परन्तु इस पर बड़ी आपत्ति यह है कि मनुष्य की तृष्णा कभी पूरी नहीं होती, बल्कि ज्यों-ज्यों मनुष्य किसी विषय का ज़्यादा ग़ुलाम होता जाता है, त्यों-त्यों उसे अधिकाधिक दुःख उठाना पड़ता है। सारी दुनिया की दौलत भी आदमी की तृष्णा को मिटा नहीं सकती।

उपयोगवाद

इस प्रकार के सभी मीयारों को अपूर्ण समझकर प्रसिद्ध अँगरेज़ विद्वान् बेंथम ने उपयोगवाद† निकाला। इसके अनुसार सबसे अधिक मनुष्यों के सुख की सबसे अधिक मात्रा ही धर्म-अधर्म की बड़ी कसौटी है। वैज्ञानिक दृष्टि से यह बहुत उत्तम मत पेश किया गया है; परन्तु इसको क्रियात्मक रूप से काम में लाना मुश्किल है। ऐसा कोई तरीक़ा नहीं है जिससे यह मालूम हो सके कि सबसे अधिक मनुष्य सबसे अधिक सुख कौन सी बात से प्राप्त कर सकेंगे। दूसरी कठिनाई है प्रत्येक मनुष्य, समाज या राष्ट्र के सुख परस्पर-विरुद्ध होना। एक तीसरी पेचीदगी भी सामने आती है जब हम दार्शनिक मिल‡ को सुख के दो भेद भी बतलाते देखते हैं।

---

* ऐपिक्युरियन दर्शन = Epicurean philosophy।

† बेंथम का उपयोगवाद = Bentham's theory of utility (बेंथम्ज़ थियरी आव् युटिलिटी)   ‡ मिल = mill.

'महाजनो येन गतः स पंथा :'

महाभारत में कहा गया है--"वेद एक रास्ता बताते हैं, स्मृतियाँ दूसरा। कोई ऐसा मुनि नहीं जिसका मत दूसरों से भिन्न न हो। धर्म का तत्त्व बहुत गूढ़ है, छिपा हुआ रहस्य है। इस कारण रास्ता वही समझो जिस पर महापुरुष चलते हों।" भीष्म पितामह ने इस बारे में अन्तिम निर्णय दिया है—"धर्म जाँचने का कोई एक नियम निश्चित नहीं है। यह समय-समय पर बदलता रहता है और भिन्न परिस्थिति में भिन्न हो जाता है। दया और सत्य जैसे धर्म भी बाज़ मौक़ों पर अधर्म हो जाते हैं।" महाभारत के कर्ण-पर्व में इस विषय पर अच्छी तरह से विवेचन किया गया है।

व्यक्ति, श्रेणी और राष्ट्र के लिए पृथक्-पृथक् कसौटी

यह कठिन पहेली समझने का केवल एक तरीक़ा है। वह यह कि हम व्यक्ति, श्रेणी और राष्ट्र के धर्म-अधर्म की जाँच अलग-अलग कसौटियों से करें और फिर देखें कि वे तीनों फिर किसी एक कसौटी पर एकत्र की जा सकती हैं। हिन्दू शास्त्रों में राष्ट्र, वर्ण या श्रेणी और व्यक्ति का पृथक् पृथक् धर्म निर्धारित है। विभिन्न आश्रमों में मनुष्य के जुदा-जुदा धर्म हैं। इनका उल्लेख भगवद्गीता के अध्याय १८ के श्लोक ४१, ४२, ४३, ४७ आदि में पाया जाता है। अध्याय ४ के श्लोक १३ में कहा गया है—"ये वर्ण और आश्रम हर मनुष्य के गुण, कर्म और स्वभाव को लेकर बनाये गये हैं।"

ईसाई मज़हब और बौद्ध मत का सभी मनुष्यों के लिए त्याग-धर्म का उपदेश करना भूल है। क्षत्रिय का कर्म ब्राह्मण के लिए और गृहस्थ का धर्म ब्रह्मचारी के लिए अधर्म है। जो धर्म संन्यासी का है वह जनसाधारण का नहीं हो सकता।

साधारण लोग वर्णों को जातियों से मिलाकर गड़बड़ पैदा कर देते हैं। वर्ण का जन्म से ज़रा भी सम्बन्ध नहीं। वर्ण तो समाज का एक स्वाभाविक विभाजन है जिससे हर एक सदस्य समाज की वह सेवा कर सकता है जिसके लिए वह सबसे अधिक योग्य है। भगवद्गीता के अध्याय

१८ श्लोक ४७ में इसी विचार को प्रकट किया गया है—"हर एक श्रेणी का अपना धर्म उसके लिए दूसरे सभी धर्मों से ऊँचा और पवित्र है"।

ऋषि कणाद ने धर्म की परिभाषा बतलाते हुए कहा है कि धर्म वह है जिससे इस लोक और परलोक, दोनों की सिद्धि होती है। परन्तु यह प्रश्न फिर भी बाक़ी रह जाता है कि वह क्या वस्तु है जिससे इस लोक और परलोक में मनुष्य का कल्याण होता है? इसका उत्तर इस श्लोक से मिलता है—हर एक श्रेणी के लिए देश-काल के अनुसार पृथक्-पृथक् धर्म होते हैं। इसी नियम के अनुसार पुरुषों का धर्म स्त्रियों के धर्म से सर्वथा भिन्न है। वे लोग भूल करते हैं जो यह समझते हैं कि स्त्री को भी पुरुष-जैसे सभी काम करने चाहिएँ। स्त्री का सर्वोच्च धर्म सुसन्तान की उत्पत्ति और उसे शिक्षा देकर जाति तथा देश के लिए तैयार करना है। भगवद्गीता के पहले अध्याय में अर्जुन ने जाति-धर्म और कुल-धर्म का सवाल उठाया है। जिस समय रथ में बैठे हुए अर्जुन ने कुरुक्षेत्र में अपने आचार्यों, गुरुओं और सम्बन्धियों को देखा तो उसका दिल काँप गया और तीर-कमान हाथ से गिर गया। उसने भगवान् कृष्ण से बड़ा भारी प्रश्न किया—"इन लोगों का चित्त लोभ के अन्दर फँसा हुआ है। ये देख नहीं सकते कि कुल-धर्म नष्ट हो जाने और जाति के साथ द्रोह करने का क्या पाप होता है। मैं इनके साथ कैसे लड़ूँ; क्योंकि जहाँ पर ऐसे युद्ध से कुल का नाश हो जाता है वहाँ पर वर्ण-संकर उत्पन्न हो जाते हैं और वर्ण-संकर पैदा होने से कुल तथा जाति के धर्म सदा के लिए उठ जाते हैं।" मेरा अनुभव यह है कि भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट नहीं दिया। उन्होंने ज्ञान तथा दर्शन की बातें और आत्मा को अमर बताकर अर्जुन को युद्ध के लिए तैयार कर लिया। यह तो हुआ। परन्तु इसके साथ यह भी एक तथ्य है कि महाभारत के युद्ध के पश्चात् भारत से कुल एवं जाति-धर्म के चिह्न एक प्रकार से मिट ही गये। जो कुछ दुर्योधन ने किया वही कई हज़ार वर्ष बाद जयचन्द ने किया। जब जयचन्द के सामने उसकी लड़की ने यह प्रश्न किया कि

आपके इस देश-द्रोह से हिन्दू-धर्म उठ जायगा, लाखों गौओं का वध किया जायगा और मन्दिर गिराये जायँगे तब जयचन्द ने उत्तर दिया—"कुछ ही हो जाय, मेरी आत्मा तभी प्रसन्न होगी जब मैं पृथ्वीराज का लहू गिरते हुए देखूँगा।" यदि हम बाद के मराठों और सिखों का इतिहास ध्यान से पढ़ें तो उनके अन्दर भी हम यही पायेंगे कि भारत से जाति-धर्म नष्ट हो गया था। यदि यह जाति-धर्म विद्यमान होता तो न भारत में इतनी आँधियाँ आतीं और न देश का इतना विनाश होता।

व्यक्तिगत धर्म

भगवद्गीता में कहा गया है—"व्यक्तिगत दृष्टि से मनुष्य के सब काम, यज्ञ और तप भी, तीन प्रकार के होते हैं—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक।" अध्याय १७ का श्लोक ३ बतलाता है—"आदमी वैसा ही होता है जैसी उसकी श्रद्धा होती है।" प्रायः मन का भाव ही हर एक काम को अच्छा या बुरा बताता है। बात यह है कि मनुष्य वह है जो उसकी श्रद्धा है, जो उसका 'मोटिव' है।

संस्कृत का शब्द 'पाप' पे धातु से निकला है जिसका अर्थ सुखाना है। जो काम मनुष्य को सुखा देता है वह पाप है। इस कारण भगवद्गीता के अध्याय ३ के श्लोक ३७ में कहा गया है, "यह काम है, यह क्रोध है जो हमको पाप में फँसाता है।" काम, अर्थात् व्यक्तिगत इच्छा ही सारे पाप की जड़ है। जो फ़ायदे के लालच में या कष्ट के भय से किया जाता है वह पाप है और जो केवल धर्म समझकर किया जाता है वह पुण्य है।

श्रेणी-धर्म और राष्ट्र-धर्म

एक श्रेणी तो ख़ास गुणों को धर्म और दूसरी उनको अधर्म कहती है। अमीरों और ग़रीबों के संघर्ष में अमीर बहादुरी को अच्छा कहेंगे, ग़रीब कमज़ोर की सहायता को। धनियों के लिए अधिकार का अर्थ असमता है और असमता प्रकृति ने बनाई है। इसके विरुद्ध निर्धन साम्यवाद के पक्षपाती होंगे। विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध धर्म पर आश्रित हैं या अधर्म पर? इसका फ़ैसला करने की एक ही कसौटी है—

सफलता। यह प्रायः पारस्परिक संघर्ष या मुक़ाबले से हुआ करती है। एक जापानी से प्रश्न किया गया—जापान सभ्य कैसे बना? उसने उत्तर दिया—रूस-जापान-युद्ध में कई लाख रूसियों का वध करने से। यदि अमेरिका इँग्लैंड के मुक़ाबले पर युद्ध में सफल न होता तो वाशिंगटन अमेरिका के लोगों का हीरो या अधिनायक बनने के बजाय विद्रोही समझा जाता।

अच्छा और बुरा क्या है?

जब कभी दो राष्ट्रों के बीच मुक़ाबला या संघर्ष होता है तब स्वभावतः दोनों अपने आप को ही हक़ पर समझते हैं। प्रायः प्रत्येक राष्ट्र अपनी नीति की सफ़ाई में संसार की भलाई का बहाना पेश करता है। इसलिए कि उनको संसार की भलाई का वही पहलू ठीक नज़र आता है जिसमें वे स्वयं अपना भला देखते हैं।

युद्ध का अन्त क्योंकर हो?

योरपीय जातियों की नीति एक समय तक योरप के अन्दर अधिक से अधिक प्रभुत्व प्राप्त करने की थी। इसी कारण उनके पारस्परिक युद्ध हुए। वर्तमान काल में उनकी नीति संसार के अन्य देशों पर अपना रोब-दाब जमाने और धन कमाने की है। इस प्रभुत्व और रोब-दाब की कमी-बेशी के कारण उनकी पारस्परिक ईर्ष्या सभी युद्धों का मूल कारण सिद्ध हुई है। योरप का गत महायुद्ध क्या था? जो दौलत एशिया की ग़रीब जातियों के ख़ून से एकत्र की गई थी उससे तोपें और गोले बनाये गये। इन तोपों और गोलों ने धन जमा करनेवालों की सन्तति को नष्ट करने का काम किया।

महाभारत का युद्ध भी निस्सन्देह इस प्रकार का विनाशकारी था। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना है कि उस युद्ध की नींव न तो शक्ति की इच्छा थी, न दूसरों से द्वेष। उसका आरम्भ उन लोगों की तरफ़ से हुआ जिनके सभी अधिकार दबाकर उनको निर्वासित कर दिया गया था। इसी कारण

श्रीकृष्ण ने उस युद्ध को धर्मयुद्ध कहा और अर्जुन को लड़ाई के वास्ते उभाड़ना ज़रूरी समझा।

संसार में युद्ध का अन्त कर देने के लिए राष्ट्र-संघ* बनाया गया। महाभारत में यह विचार प्रकट किया गया है कि इस प्रकार के युद्धों को रोकने का उपाय यह है कि झगड़े की हर एक बात के बारे में क़ानून बनाने का निर्णय चार संन्यासियों की सभा के द्वारा हो जिनमें एक-एक संन्यासी दोनों विरोधी दलों का हो, तीसरा निष्पक्ष देश का और चौथा वन में रहनेवाला हो। संसार में युद्ध का अन्त सिर्फ़ उस दशा में हो सकता है जब अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की नींव धर्म पर रक्खी जाय।

सर्वश्रेष्ठ धर्म

यदि व्यक्ति-धर्मों, श्रेणी-धर्मों और राष्ट्र-धर्मों को एक जगह करके उनकी परीक्षा की जाय तो इन तीनों के अन्दर एक सामान्य सिद्धान्त काम करता दिखाई देता है। वह सिद्धान्त दूसरों की भलाई है। इसे भगवद्गीता के अध्याय ५ के श्लोक २५ में सर्व-भूत-हित कहा गया है। इस धर्म का बतानेवाला वह मनुष्य हो सकता है जो सभी प्राणियों को एक नज़र से देखता हो। अध्याय १२ के श्लोक ४ में कहा गया है—"सबमें एक सिद्धि रखनेवाला और सभी प्राणियों के हित के लिए कोशिश करनेवाला मुझको पाता है।" अध्याय ६ का श्लोक २९ भी यही कहता है—"पूर्ण ज्ञानी सब प्राणियों को अपने अन्दर और अपनी आत्मा को उनके अन्दर देखता है।" अध्याय ५ के श्लोक १८ में बताया गया है—"ब्राह्मण, शूद्र, हाथी, गधे और कुत्ते को ज्ञानी सम-दृष्टि से देखता है।"

——

* राष्ट्रसंघ = League of Nations (लीग आफ नेशन्ज़)।

अठारहवाँ परिच्छेद

कर्तव्य

न्याय के साथ प्रेम का अर्थ

भगवद्गीता कर्म का रास्ता बतानेवाला ज्ञान-शास्त्र है। चौथे अध्याय के सातवें श्लोक में कहा गया है—"जब धर्म की ग्लानि होती है तब मैं साधु लोगों की रक्षा और दुष्टों के विनाशार्थ संसार में आता हूँ।" मानव-संसार में कितने ही अवसरों पर महात्माओं ने केवल प्रेम और भक्ति का प्रचार करके दुनिया को ऊपर उठाने का प्रयत्न किया है। कुछ महापुरुषों को अधर्म दूर करने के लिए, उसके विरुद्ध, युद्ध करना पड़ा है। वास्तव में दोनों मार्ग एक ही हैं। इनका ग्रहण परिस्थिति पर निर्भर है।

भगवद्गीता के ज्ञान का अवसर

कौरव और पाण्डव दल युद्ध के लिए इकट्ठे थे। अर्जुन ने दोनों तरफ़ नज़र दौड़ाई। उसे अपने गुरुजन और सम्बन्धी दिखाई पड़े। अर्जुन घबरा गया। उसने श्रीकृष्ण से कहा—"इस लड़ाई से तो भीख माँगकर पेट भर लेना बेहतर है।"

अर्जुन फिर कहने लगा—"ये अज्ञानी राज्य के लोभ में फँसे हैं। हम यदि ज्ञानी होकर इन्हें मारेंगे तो हमारे लिए यह महापाप होगा।" श्रीकृष्ण ने कहा—"ये कैसी कायरों की बातें करते हो? ऐसा करना आर्यों की शान के ख़िलाफ़ है। तुम्हारा यह त्याग झूठा है। इससे धर्म का त्याग होता है।" अध्याय २ के श्लोक १९ में अर्जुन को उन्होंने साफ़ बताया है—"इसकी चिन्ता मत करो। यह आत्मा न तो ख़ुद मरता है और न किसी को मारता ही है। यदि तुमने ज्ञान प्राप्त कर लिया है तो तुम मरने-मारने के पाप से दूर चले गये हो।"

विजय और हैातात्म्य

मत्सीनी ने एक जगह कहा है—"जो मनुष्य धर्म के लिए जान देने पर तैयार होता है उसकी रक्षा और पथ-प्रदर्शन के लिए विजय और हैातात्म्य के देवता—फ़तह और शहादत के फ़रिश्ते—विद्यमान रहते हैं। धर्मयुद्ध में पहले तो विजय प्राप्त होती है। यदि विजय न हो तो शहादत का फ़रिश्ता अपने पर फैलाये उसकी आत्मा को आकाश पर ले जाता है।" भगवद्गीता के अध्याय २ के श्लोक ३७ में भी यही भाव प्रकट किया गया है--"इस धर्मयुद्ध में यदि तुम जीत जाओगे तो राज्य करोगे, यदि मारे जाओगे तो स्वर्ग पाओगे। इसलिए अर्जुन, तुम धर्मयुद्ध के लिए तैयार हो जाओ।"

धृतराष्ट्र ने ऋषि संजात से पूछा—"क्या मौत का अस्तित्व है?" ऋषि ने उत्तर दिया—"मौत है भी और नहीं भी। यह तो देखनेवालों की आँखों पर अवलम्बित है। मृत्यु केवल अज्ञान का परिणाम है। ज्ञानी के लिए मृत्यु का कोई अस्तित्व नहीं। अज्ञान के कारण इच्छा उत्पन्न होती है। इच्छा से काम-भाव और क्रोध आते हैं जो मनुष्य को मृत्यु के पंजे में फँसाते हैं। जिस मनुष्य में इच्छा नहीं उसे मृत्यु का खटका नहीं।" मृत्यु और जन्म सिर्फ़ तबदीली के नाम हैं। यदि मृत्यु न होगी तो परिवर्तन का नियम बन्द हो जाने से जन्म भी न होगा।

कर्त्तव्य का ज्ञान और देश-काल

परिस्थिति को अच्छी तरह समझने से कर्त्तव्य का ज्ञान होता है। देश, काल और कारण का जानना, परिस्थिति का जानना है। अपने देश तथा जाति की अवस्था जानने के वास्ते थोड़ा पीछे जाने की ज़रूरत है। जो लोग इस देश में रहते हैं उनको आर्य और हिन्दू कहा गया है। यूनानियों ने इस देशवालों को इन्दु नाम से अभिहित किया जिससे 'इन्द' और 'इण्डिया' प्रचलित हुए। ये शब्द यूनान से इटली और वहाँ से शेष योरप में फैले। मुसलमानी बादशाहत के समय 'हिन्दू' का अर्थ स्वभावतः बुरा समझा जाने लगा।

विभिन्न आन्दोलनों का उद्देश—जाति-रक्षण

आर्यों की जितनी शाखाएँ संसार में फैली हैं उनमें से केवल हिन्दुओं ने अपनी नस्ल की सभ्यता को असली हालत में क़ायम रखने की कोशिश की है। योरप की आर्य शाखाएँ यहूदी विचारों के अन्दर मिल गईं। एशिया की अन्य आर्य शाखाओं ने इसलाम के द्वारा अरब की सभ्यता को ग्रहण किया। लेकिन हिन्दुओं ने अपनी सभ्यता या अस्तित्व बनाये रखने के लिए, मुसलमानी शासन के दिनों में, बड़ा त्याग किया है। इन दिनों भी विभिन्न प्रान्तों में उनकी अनेक संस्थाएँ, ईसाई प्रभावों से भारतीय संस्कृति की रक्षा करने में यत्नशील हैं।

इन सबसे बढ़कर आर्यसमाज ने अपना असर पैदा किया है। यद्यपि स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज के नियमों में समय-समय पर आवश्यक परिवर्तन किया है; फिर भी उनके मन में, आरम्भ से अन्त तक, वेद-धर्म या हिन्दू-संस्कृति के लिए अटल और निस्सीम प्रेम था। यही एक भाव स्वामी दयानन्द के जीवन और मृत्यु का आदर्श था। वेद-धर्म की रक्षा के लिए स्वामीजी ने अपनी विद्या, बल और जीवन का बलिदान कर दिया।

आदर्श और उत्कर्ष या अपकर्ष

बहुधा सुना जाता है—"आजकल तो संसार उन्नति कर रहा है।" अभी तक योरप की उन्नति ही हमारा आदर्श रहा है। योरप के गत महा-युद्ध ने बताया है कि यह सब उन्नति किधर को जा रही है। संसार में राष्ट्र उत्पन्न होते, बढ़ते और गिरते हैं। आदर्श की ओर जाने का नाम उत्कर्ष और उससे दूर हटने का नाम अपकर्ष है। धर्म की रक्षा ही राष्ट्रीय जीवन की रक्षा है।

जर्मन दार्शनिक शापनहावर उपनिषदों के फ़ारसी अनुवाद को पढ़ने के बाद इस परिणाम पर पहुँचा—"उपनिषद् बनानेवालों की सन्तति को हमारे ईसाई मिशनरी क्या सिखलायेंगे! मानव-समाज की प्रारम्भिक सभ्यता को गेलिलियो के तथ्य और कहानियाँ मिटा नहीं सकतीं।"

मज़हब और राजनीति

कोई मज़हब राजनीति से ख़ाली नहीं। जहाँ पर मज़हब मौत के बाद की अज्ञेय बातों की तरफ़ हमारा ध्यान दिलाता है वहाँ पर राजनीति सभी सांसारिक मामलों को हमारे सामने रखती है। राष्ट्र की आर्थिक, सांस्कृतिक, शारीरिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी उन्नति के सब विषय राजनीति के भीतर हैं। हिन्दुओं के पतन का सबसे बड़ा कारण जनसाधारण का राजनीति से उदासीनता है।

राजनीति का एक विशेष पहलू

राजनीति का एक और पहलू है जो संकट और मुसीबत के समय शत्रुओं के साथ बरताव के सम्बन्ध में है। महाभारत में इसका उल्लेख है। वर्तमान राजनीति का यह एक प्रकार से बीज-मन्त्र है। एक चूहे के उदाहरण से इसे स्पष्ट किया गया है जिसने अपने तीन शत्रुओं—बिल्ली, नेवला और उल्लू—से एक साथ घिरे रहने पर भी चालाकी से अपनी जान बचाई।

बलवान् शत्रु को वश में करने के लिए स्वयं भली भाँति तैयारी करनी चाहिए। उसकी चालों का सूक्ष्म ज्ञान रखना और उन्हें निष्फल करने के लिए दृढ़ता-पूर्वक प्रयत्न करना चाहिए।

राजनीतिक संसार में शत्रु को गिराने के वास्ते लोभ, भय और स्त्री सदा ही प्रयोग किये गये हैं। राजनीतिक चरित्र उसी का है जिसमें इनसे बचने की हिम्मत हो। इन प्रलोभनों में फँसकर मनुष्य राष्ट्रद्रोह करता है।

भारत पर अँगरेज़ी शासन का प्रभाव

अँगरेज़ जाति का निश्चय भारत का भला करने का था या नहीं, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अँगरेज़ जाति के द्वारा भारत का एक भला ज़रूर हुआ है। वह यह कि हममें अपने को देखने-समझने की शक्ति आ गई है।

अँगरेज़ी सम्पर्क का गहरा प्रभाव भारत में मनुष्य के राजनीतिक अधिकारों के आधार पर देश-प्रेम की लहर का चलना है। यह भाव

एक दृष्टि से नया है। यह भाव एक तरह की अग्नि है जिसमें हिन्दुओं की ऊँच-नीच की प्रवृत्ति और हिन्दू, सिख, मुसलमान आदि के मज़हबी मतभेद जलकर राख हो सकते हैं और उनके स्थान में मानवी स्वतन्त्रता तथा समानता की सुगन्ध निकल सकती है।

भाषा का विनाश और राष्ट्रीयता

जहाँ-जहाँ अरब लोगों ने विजय पाई, वहाँ-वहाँ के लोगों को अपने साथ सम्बद्ध करने के लिए उन्होंने अपनी सभ्यता और भाषा फैलाई। ईरान और मिस्र में उन्होंने पुरानी भाषाओं की जगह अरबी भाषा प्रचलित की। जर्मन लोगों ने एल्सास और लोरेन के प्रदेशों को विजित करने के पश्चात् उनमें फ़्रांसीसी भाषा के स्थान में जर्मन भाषा को राष्ट्रीय भाषा बनाने की कोशिश की। अँगरेज़ी को अदालतों की तथा उच्च शिक्षा की भाषा निश्चित कर अँगरेज़ों ने भी यही किया है।

हिन्दू-मुसलमानों का पारस्परिक सम्बन्ध

इस देश में मुसलमानों की आबादी का ख़ासा हिस्सा है। लेकिन अब तक उनके अन्दर स्वदेश-प्रेम के बजाय मज़हबी जोश ही काम करता आ रहा है।

हमारे जीवन का बड़ा भाग अपनी सांसारिक उन्नति में व्यय होता है। राष्ट्र की सांसारिक उन्नति में हर एक सदस्य का हित पाया जाता है। इसलिए उचित एवं आवश्यक यही प्रतीत होता है कि झगड़े की बातों के फ़ैसले का कोई रास्ता निकालकर हम पारस्परिक द्वेष के भाव को दूर करने का यत्न करें।

देश के सामान्य आर्थिक लाभ की दृष्टि से हर प्रकार से गो-रक्षण का महत्त्व मुसलमानों को समझना चाहिए। इसके सिवा उन्हें, अपने हिन्दू पड़ोसियों के दिल पर, बिलकुल मामूली बात के लिए चोट न पहुँचाना चाहिए। मज़हबी रीति-रवाजों के पालन में दोनों जातियों को विवेक और सहिष्णुता से काम लेना चाहिए।

हिन्दू-संस्कृति की रक्षा हमारा कर्तव्य है

वेद हिन्दुओं के धर्म का एक चिह्न है और गौ उनकी राजनीतिक एकता और आर्थिक उन्नति का। हिन्दू की एक परिभाषा ठीक ही यह की गई है कि गौ और ब्राह्मण की रक्षा करे। ब्राह्मण वेद का रक्षक है।

हिन्दुओं को यह याद रखना चाहिए कि यदि उनकी सभ्यता या संस्कृति संसार से मिट गई तो उनका अस्तित्व ही मिट गया। धर्म और संस्कृति का त्याग करके न जीना अच्छा है, न मरना। धन-धान्य की परवा न करके प्राणों की रक्षा करनी चाहिए और प्राणों की परवा न करके धर्म की रक्षा करनी चाहिए।

इस राष्ट्र ने असंख्य तूफ़ान झेलकर संसार की सबसे प्राचीन संस्कृति को बचाया है। ग़ुलामी बुरी चीज़ है और राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्रशंसा में यहाँ तक कहा गया है कि इसके वास्ते हमें सब कुछ बलिदान करने को तैयार रहना चाहिए।

हिन्दुओं के अछूत

अस्पृश्यता हिन्दुओं के लिए कलङ्क की बात है। हमारी रीतियों में भी यथेष्ट संशोधन की आवश्यकता है।

निराशा के अन्धकार में आशा की किरण

यदि यह जाति और इसकी संस्कृति इतने युगों के अन्दर विभिन्न आन्दोलनों से नष्ट नहीं हुई है तो भविष्य के लिए भी हम निराश नहीं हैं। जातियों का उठना-गिरना लगा रहता है। हमारे वेद-शास्त्र तथा धर्म-रक्षा में आत्माहुति देनेवाले वीरों के उदाहरण न केवल हमारी आशा को मज़बूत बनाते हैं, वरन् उनसे हमें सच्ची कर्म-प्रेरणा मिल सकती है। आवश्यकता है उनके मनन की तथा उनके चरित्र का अनुशीलन कर स्फूर्ति प्राप्त करने की। राणा प्रताप, महारानी पद्मिनी, गुरु गोविन्दसिंह, बन्दा बहादुर और शिवाजी महाराज के त्यागपूर्ण कार्यों के चिन्तन से किसी भी मृतप्राय जाति में जीवन-शक्ति का संचार होना असम्भव नहीं।

भगवद्गीता में आसक्ति और मौत से लापरवाही

ज्ञान तो यह है कि आत्मा अमर है, मौत उसे मिटा नहीं सकती। इसके साथ ही श्रीकृष्ण अर्जुन से साफ़ कहते हैं—"तुम अपना तन-मन मेरे प्रेम के अर्पण करो। मैं तुम्हें इस भयानक संसार-सागर से पार ले जाऊँगा।" दूसरी शक्ति जो निर्भयता उत्पन्न करती है, प्रेम या इश्क़ है। प्रेम-भाव का अर्थ है क़ुरबानी या त्याग। त्याग जितना ज़्यादा होता है उतनी ही ज़्यादा प्रेम की सचाई मालूम होती है। सच्चा प्रेम त्याग से बना होता है, दिखावे का प्रेम स्वार्थ से।

भगवद्गीता का पढ़नेवाला व्यक्ति विरला ही होगा जिसके मन में अपने आप को श्रीकृष्ण के अर्पण करने की इच्छा उत्पन्न न हुई हो। श्रीकृष्ण क्या हैं? वे हिन्दू-राष्ट्रीयता की आत्मा हैं। श्रीराम और श्रीकृष्ण—ये दो नाम हिन्दू-जाति के प्राण हैं। हमारी राष्ट्रीयता या जातीयता सबसे बढ़कर इन दो नामों से बँधी हुई है। यदि ये दो नाम हमसे बाहर निकल जायँ तो हमारा राष्ट्र या जाति मृतप्राय हो जाय।

इतिहास को देखने से पता चलता है कि हमारे देश में, भिन्न-भिन्न समय में, ऐसे महात्माओं का जन्म होता रहा है जो राष्ट्रीय धर्म की सेवा में, ज़रूरत पड़ने पर, अपने जीवन को तिनके के बराबर समझते थे। उनके त्याग और वीरत्व की कहानियाँ पढ़-सुनकर आज भी हमारा शरीर रोमाञ्चित हो उठता है।

— —

ग्रन्थकार तथा ग्रन्थ-सूची

इस पुस्तक में जिन ग्रन्थकारों तथा ग्रन्थों के उल्लेख हैं उनके उद्धरण या हवाले सम्पादक देना चाहता था। परन्तु बीमारी के कारण वह ऐसा नहीं कर सका। खेद है कि अब यह कार्य अगले संस्करण तक स्थगित करना पड़ता है। यहाँ पर उनके नाम ही दिये जाते हैं—

ग्रन्थकार—

इमर्सन	शंकराचार्य
कार्लाइल	हरबर्ट स्पेंसर
एलबैरूनी	हैकल
दाराशिकोह	पाइथागोरस
प्लेटो	एनेक्सामेंडर
तन्मीम हिन्दी	एम्पीडाक्लीज़
श्लेगल	गिआर दि नो ब्रूनो
शापनहावर	शम्स तबरेज़
मत्सीनी (मेज़िनी)	अलग़ज़ाली
थोरो	हाफ़िज़
भर्तृहरि	जलालदीन रूमी
डारविन	स्पिनोज़ा
जेम्ज़	गैटे
बर्क्ले	मनु
ह्यूम	लैपलेस
कांट	हक्सले
हैगल	चार्ल्स लायल
फ़िश्टे	पतञ्जलि

बकल	गिबन
बेकन	जैकालिये
दयानन्द	डार्मस्टेटर
तिलक	मैक्समिलर
अरविन्द घोष	सुक़रात (साक्रेटीज़)
लाक	बैंथम
हाब्ज़	मिल
नीट्शे	ह्यूनसांग
तुलसीदास	

ग्रन्थ

वेद	वैशेषिक दर्शन
पुराण	मांडूक्य उपनिषद्
अंजील (बाइबल)	महाभारत
न्याय दर्शन	रामायण
छान्दोग्य उपनिषद्	ऐतरेय उपनिषद्
योग दर्शन	क़ुरान
सांख्य दर्शन	तौरेत
वेदान्त दर्शन	